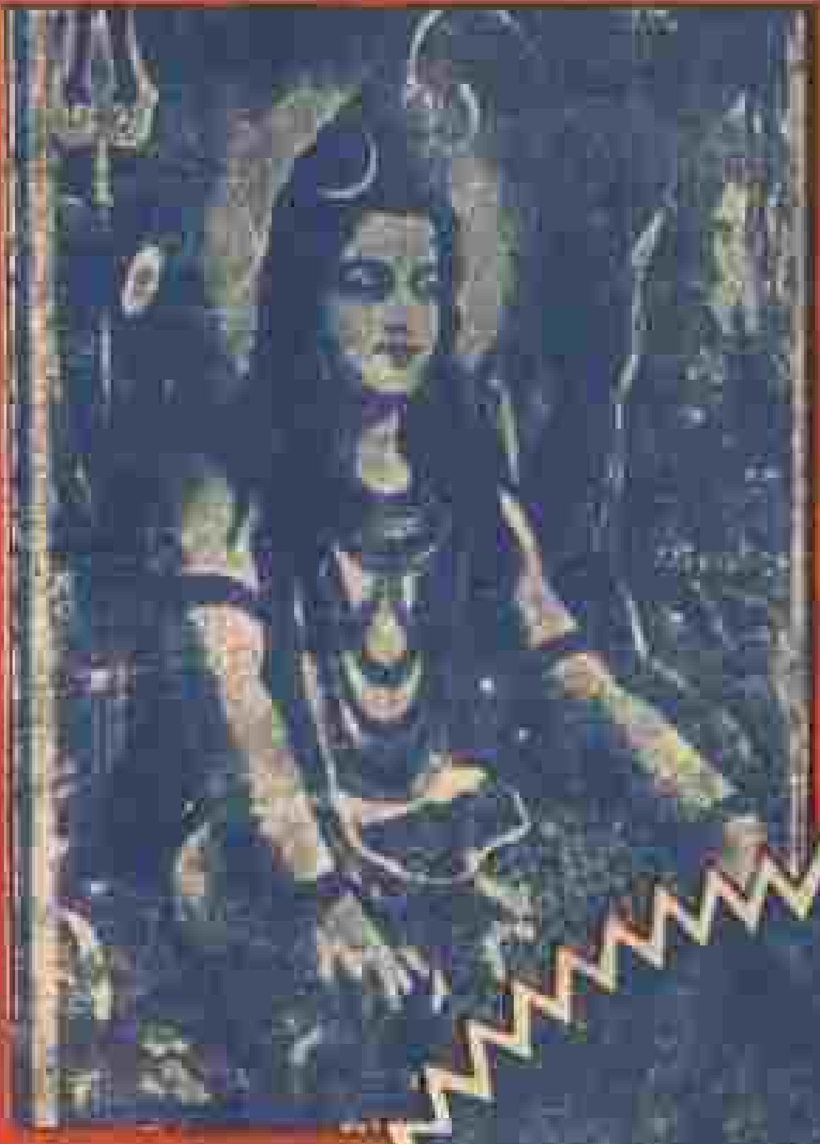

संस्थापक सम्पादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

सिद्धयोग

वर्ष - १७

अंक - १२

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन संवाई आगरा

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा, मथाई

इस अंक में—

- पूर्णं पुरुषेण सर्वम् १
- वर्णाश्रम धर्म और योग २
  योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
- ध्यान क्या और क्यों ? ८
  श्री विष्णुप्रसाद व्यास
- शिव तत्त्व की प्राप्ति ९
  श्री जगदीश नारायण उपाध्याय
- चित्त एवं चित्त-भूमि २०
  श्री सुरेन्द्रबहादुर सिंह
- भगवत्पाद-गुरु-संपर्क-अनुभव २४
  श्री कृष्णकुमार पाण्डेय
- परकाया-प्रवेशकारी महामुनि विदुर २९
  डा० श्रीमती रामकुमारी मिश्रा
- यौगिक प्रश्नोत्तरी ३४
- योगेश्वर चरित माला ३६
  प्रयाग-कुम्भ
- प्राणायाम (वाङ्मयमय परिभाषा) ४४

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'
मार्च १९८५

वार्षिक मूल्य १२ रुपया

श्री महागुरुदेव परब्रह्मणे नमः ॐ श्री रामलाल प्रभवे नमः

श्री सिद्ध-गुफा सवांई का

योग-महामेला

तथा

महाप्रभु श्री रामलाल जी की पावन जयन्ती

सभी गुरु भाई-बहनों को यह जानकर परम हर्ष होगा कि श्री सिद्ध-गुफा सवांई का वार्षिक योग-महामेला चैत्र शुक्ला सप्तमी, अष्टमी, नवमी दिन गुरुवार, शुक्रवार, शनिवार, दिनांक २८, २९, ३०, मार्च १९८२ ई० को बड़ी धूम-धाम से मनाया जा रहा है। श्री गुरुदेव जी की ओर से छपे हुए निमन्त्रण-पत्र आप सब को भेजे जावेंगे ही फिर भी यदि किसी को निमन्त्रण-पत्र न मिले तो इसी सूचना को निमन्त्रणपत्र समझकर सपरिवार सभी को इस पावन-समारोह में सम्मलित होकर धर्म-लाभ लेना चाहिए।

—सभी आगन्तुक भाई-बहनों को मौसम के अनुकूल अपने अपने बिस्तर अवश्य साथ लाना चाहिए क्योंकि आश्रम की ओर से सभी को बिस्तर देना सम्भव नहीं हो सकता। आगन्तुक महानुभावों का बिस्तर लाने सम्बन्धी इस सूचना पर विशेष ध्यान रखना चाहिए।

निवेदक:—
स्वागत-समिति, श्री सिद्धगुफा योग-महामेला
योग-प्रशिक्षण केन्द्र श्री सिद्धगुफा
सवांई (नागौर)

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष १७
अङ्क १२

मार्च
१९८५

ध्यानं ध्यानं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुखं विवशतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः।
तत्साफल्यार्थम् बहुविधमिदं योगतत्त्वोपदेशम्,
कल्याणार्थं भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोग' ॥

ॐ पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॐ

यस्मात् परं नापरमस्ति किञ्चिद्,
यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित् ॥
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक-
स्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ॥

अर्थात्

उन परमदेव परमेश्वर से श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है, वे सर्वश्रेष्ठ हैं। जितने भी सूक्ष्म तत्त्व हैं, उन सबसे अधिक सूक्ष्म वे ही हैं। उनसे अधिक सूक्ष्म कोई भी नहीं है। इसीसे वे छोटे से छोटे जीव के शरीर में प्रविष्ट होकर स्थित हैं। इसी प्रकार जितने भी महान् व्यापक तत्त्व हैं, उन सबसे महान्-अधिक व्यापक वे परब्रह्म हैं, उनसे बड़ा उनसे अधिक व्यापक कोई भी नहीं है। इसीसे वे प्रलयकाल में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपने अन्दर लीन कर लेते हैं। जो अकेले ही वृक्षकी भाँति निश्चलभावसे परमधाम रूप प्रकाशमय दिव्य आकाश में स्थित हैं, उन परब्रह्म परमात्मा से यह समस्त जगत् व्याप्त है—वे परम पुरुष परमेश्वर ही निराकाररूप से सारे जगत् में परिपूर्ण हैं।

हमारा विशेष लेख——

वर्णाश्रम धर्म और योग

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमारे ऋषि मुनियों के प्राचीन सिद्धान्त और उनकी दूरदर्शिता का कोई अनुमान भी नहीं किया जा सकता, उन्होंने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा के अनुसार भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों की स्थापना की वस्तुतः वे सब सत्य सिद्धान्त ही हैं। सिद्धान्त शब्द का आशय है कि जिसका अन्तिम निर्णय बिल्कुल सत्य-सत्य हो वह सिद्धान्त कहलाता है। आचार्यों ने मनुष्य मात्र के भले के लिए चार आश्रमों की स्थापना की। यद्यपि यह भी एक विचारणीय सिद्धान्त की बात है प्राचीन ऋषि पद्धति के अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, आदि चारों वर्ण भी ईश्वरी देन है किन्तु यदि स्त्रियों का संरक्षण बिल्कुल ठीक ठीक पातिव्रत धर्म के नियमानुसार बिल्कुल ठीक तौरपर होता है और गर्भाधान भी शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार निर्धारित समय पर होता है तब जैसे पुरुष का आधान-विधान होगा—सन्तान भी बिल्कुल उसके अनुरूप ही होगी—इसमें कोई भी शंका की बात नहीं। आम के बीज से आम और नीम के बीज से नीम आदि-आदि वृक्षों की उत्पत्ति देखने में आती है। यही कारण था कि हमारे पूर्वजों ने स्त्रियों की रक्षा के लिये कड़े-से-कड़े उत्कृष्टोत्कृष्ट नियम रखे थे जिससे यह अन्य परपुरुषों का स्पर्श भी न कर सकें। हमने अपने इधर-उधर के भ्रमणकाल में प्राचीन समय के क्षत्रिय शासकों के महल देखे हैं जिनमें स्त्रियों के संरक्षण का बड़े-बड़े उपायों और उत्कृष्ट उपाय बरते जाते थे। अतः उनके गर्भ से जो सन्तान पैदा होती थी वह शुद्ध पवित्र अपने पिता के अनुरूप ही हुआ करती थी। महाभारत की लड़ाई के समय अर्जुन के मन में यही एक बहुत बड़ी शंका पैदा हुई थी और उसी शंका को मन में रखते हुये भगवान कृष्ण के सम्मुख उसने बिल्कुल स्पष्ट कह दिया था:—

कथं न ज्ञेयमस्माभिः
पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं
प्रपश्यद्भिर्जनार्दन॥
कुलक्षये प्रणश्यन्ति
कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नम-
धर्मोऽभिभवत्युत॥

अधर्माभिभवात्कृष्ण
प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय
जायते वर्णसंकरः ॥
संकरो नरकायैव कुल-
घ्नानां कुलस्य च ।

अर्थात् अर्जुन के मन में यह शंका पैदा हुई कि यदि हम लड़ाई करेंगे तो वीर योद्धा सब मारे जायेंगे। स्त्रियां सब स्वच्छन्द हो जायेंगी और वह सब इधर-उधर के पतित मर्दों में पड़कर वर्णसंकर सन्तान पैदा करेंगी। जिसका अन्तिम परिणाम नरक ही होगा। यह हमारी प्राचीन विचार पद्धति थी स्त्रियों का संरक्षण बड़े विधि विधान से किया जाता था, जिससे उत्तम सन्तान पैदा हो सके। इसलिए भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के चौथे अध्याय में चातुर्वर्ण्य की उत्पत्ति का संकेत स्वयं किया है और उसकी ईश्वरीय संविधान बतलाया है :

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं
गुणकर्मविभागशः ।

यदि ईश्वर की परम कृपा से वर्ण धर्म के नियमानुसार अपने-अपने वर्ण में शुद्ध बीज से सन्तानों की उत्पत्ति हुई है और ऋषि पद्धति नियमों के अनुसार उनका संरक्षण एवं पालन पोषण आश्रम धर्मों के अनुसार ठीक-ठीक बन पड़ा है तो मनुष्य जीवन की सफलता को पा जाना कोई भी कठिन बात नहीं है। हमारे आचार्यों ने सबसे पहले ब्रह्मचर्य आश्रम की स्थापना की। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी को उत्कृष्टता की ओर ले जाता है। प्राचीन काल में हमारे ऋषि मुनि घोर घनघोर जंगलों में अपने-अपने आश्रमों की संस्थापना किया करते थे और वहां पर छोटे-छोटे बच्चों को लेकर के उनकी शिक्षा पद्धति चलती थी। यमनियमों का नियमानुसार पालन करवाया जाता था। इन छोटे बच्चों को वासना का ज्ञान ही नहीं हो पाता था इसके फलस्वरूप स्वतः ही ब्रह्मचर्य व्रत का पालन हो जाया करता था। किसी वासना भोगी व्यक्ति को ब्रह्मचारी बनाना सहज बात नहीं। क्योंकि "न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते" अर्थात् मन में पैदा हुई कामना-वासनायें उपभोग से शान्त नहीं होतीं प्रत्युत जिस प्रकार अग्नि में घी डालने पर आग भड़क उठती है ठीक उस ही प्रकार से वासनाओं के उपभोग करने वाले व्यक्तियों के मन में दिन दूनी रात चौगुनी वासनायें बढ़ती चली जाती हैं। आज कल के कठिन समय में जबकि सारे देश-प्रदेशों में कामोपभोग का अनवरत चक्र चल रहा है तथा ऐसी स्थिति में योग ध्यान की प्राप्ति कर लेना बिल्कुल असम्भव सी बात हो गई है तब भी जिन बच्चों को वर्णाश्रम धर्म के अनुसार

प्रारम्भ से ही ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कराया जाता है उनके मनों के अन्दर कामोप-भोगों की भावना ही नहीं पनपाती और इसके साथ-साथ जंगलों में रहने पर निरंतर शुद्ध कन्दमूल फलों का आहार करने एवं ऊपर से पवित्रतम् गो दुग्ध का पान कराये जाने पर एवं गुरुकुल एवं ब्रह्मचर्य आश्रम की नियमा-वली के अनुसार आसन, मलमुद्रायें एवं प्राणा-याम आदि का अभ्यास नियमानुसार कराया जाय तो ऐसी स्थिति में स्वतः ही ब्रह्मचर्य व्रत का पालन हो जाता है। ऐसे ब्रह्मचर्य से बाल्यावस्था में बालक ब्रह्मचर्य आश्रममें ही काल पर विजय प्राप्त करने वाला बनजाता है। वीर्य धारण करने कोही ब्रह्मचर्य कहते है। वीर्य को हमारे शास्त्रोंमें बहुत रूप से कथन किया गया है। जो वीर्य को धारण करे वही ब्रह्मचारी कहलाता है। वीर्य हमारे शरीर में सातवी धातु है उसका स्वरूप हमारे शास्त्रों में इस प्रकार वर्णित है—

शुक्रं सौम्यं सितं स्निग्धं
बल पुष्टिकरं स्मृतम् ।
गर्भ बीजं वपुः सारो
जीवनाश्रय उत्तमः ।

अर्थात् मनुष्य जब अन्न सेवन करता है रस उससे रस बनता है, रस के बाद रक्त, रक्त के बाद मांस, मांस के बाद मेद, मेद के बाद हड्डी (अस्थि) अस्थि के बाद मज्जा, मज्जा से वीर्य बनता है। और वीर्य से ओज की उत्पत्ति होती है। जो मनुष्य को देदीप्यमान रखता है। वीर्य सम्पूर्ण शरीर का आधार जीवन का आश्रय और परम पुष्टिकर है। जिस प्रकार से दूध में घी और ईख के रस में गुड़ व्यापक रहता है, वैसे ही तन में वीर्य रहता है। इसी से मन और बुद्धि का पूर्ण विकास होता है। यही एवं सिद्धियों का मूल है। शिव संहिता में भगवान शंकर ने इन शब्दों में व्याख्या की है—

मूलम-मरणं बिन्दु पातेन
जीवनं बिन्दुधारणो ।
तस्मादति प्रयत्नेन
कुरुते बिन्दुधारणम् ।
मूलम-जायते म्रियते लोके
बिन्दुना नात्र संशयः ।
एतज्ज्ञात्वासदा योगी
बिन्दुधारणमाचरेत ।
मूलम्-सिद्धे बिन्दौ महायत्ने
किं न सिध्यतिभूतले ।
यस्य प्रसादा महिमा
ममाप्येइशो भवेत् ॥

अर्थात् बिन्दु के पतन से मरण व बिन्दु के धारण से जीवन होता है। प्राणी का जन्म और मरण बिन्दु से ही होता है। इसलिये योगी को प्रयत्न करके बिन्दु धारण करना चाहिए। यत्न पूर्वक बिन्दु जय कर लेने पर संसार में कोई भी ऐसा कार्य नहीं जो सिद्ध किया जा सके भगवान कहते हैं कि मेरा जो

युक्त प्रभाव संसार में दिखलाई पड़ता है, वह केवल वीर्य धारण से ही है। ब्रह्मचर्य के नियम बहुत कड़े-कड़े हैं। शास्त्र विधि के अनुसार ब्रह्मचारियों की दो संज्ञायें रखी गई हैं।

१. नैष्ठिक २. उपकुर्वाण

१ नैष्ठिक—

नैष्ठिक ब्रह्मचारी वह कहलाता है जो जीवन-पर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचारी रहे। उदाहरणार्थ भीष्मपितामह, शङ्कराचार्य, आर्य समाज प्रवर्तक स्वामी दयानन्द नैष्ठिक ब्रह्मचारी हुए हैं।

२-उपकुर्वाण—

उपकुर्वाण ब्रह्मचारी वह कहलाता है जो समय की अवधि तक ब्रह्मचर्य आश्रम का पूर्ण रूपसे पालन करके गृहस्थ में प्रवेश कर जाय। इनमें किसी भी संज्ञा का कोई भी ब्रह्मचारी हो, ब्रह्मचर्य अवस्थामें मैथुन त्याग परमावश्यक है।

कर्मणा मनसावाचा
सर्वावस्थासु सर्वदा।
सर्वत्र मैथुन त्यागो
ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥

जो सब अवस्था में मन, वाणी कर्म से सर्वथा मैथुन का त्याग करता है। वही ब्रह्मचारी कहलाने का अधिकारी है। मनुस्मृति आदि में ब्रह्मचर्य पालन के लिए बहुत बड़े-बड़े नियम लिखे हैं। लेख के बढ़ जाने के भय से इन सबका यहाँ उद्धरण करना आवश्यक नहीं समझा गया। किन्तु इस विषय में सभी शास्त्रों का एक मत है कि मन से ब्रह्मचारी को विषयों का चिंतन नहीं करना चाहिए। क्योंकि—

ध्यायतो विषयान्पुंसः
सङ्गस्तेषूपजायते
सङ्गात्संजायते कामः
कामात्क्रोधोऽभिजायते।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः
सम्मोहात्स्मृति विभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो
बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥

अर्थात् विषयों का चिन्तन करने से मनुष्य को सङ्ग, सङ्ग से काम, काम से क्रोध और क्रोध से मोह, मोह से स्मृतिभ्रंश और स्मृति भ्रंश से बुद्धिनाश और बुद्धिनाश से सर्वनाश हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञानुसार जो मनुष्य चिन्तन मात्र से विषयों का स्मरण नहीं करता वही ब्रह्मचर्य के नियमों का पालन कर सकता है। अन्यथा नहीं। जिसने इस ब्रह्मचर्य रूप महाशक्ति को धारण कर लिया है, उसने संसार को जीत लिया है। ब्रह्मचारी में सिद्धों की तरह चमत्कार करने की शक्ति आ जाती है। भगवान पतञ्जलि ने ब्रह्मचर्य धारण का फल एक सूत्र में बतलाया है :—

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।

ब्रह्मचर्य की पूर्ण प्रतिष्ठा से पूर्ण सामर्थ्य लाभ होता है। इसी सूत्र का भाष्य करते

हुए भगवान व्यासदेव जी कहते हैं।

यस्यलाभाद् प्रतिघानगुणानुत्कर्षो यतिः सिद्धश्चविनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवतीति।

अर्थात् इस ब्रह्मचर्य के धारण करने से अनुपम गुण बढ़ते हैं और पूर्ण ब्रह्मचर्य सिद्ध हो जाने पर ब्रह्मचारी अपने शिष्यों में शक्ति संचार करके ज्ञान धारण करा सकता है। ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्दर पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वाला ब्रह्मचारी ब्रह्म में विचरने वाला पूर्ण समाधिस्थ योगी बन जाता है। ब्रह्मचारी शब्द का सैद्धान्तिक अर्थ भी ब्रह्मणो चरितुम् शीलमस्यास्तीति स ब्रह्मचारी अर्थात् ब्रह्म में विचरने की जिसकी आदत पड़ जाती है यथार्थ में वही ब्रह्मचारी कहलाता है और हमारे प्राचीन आचार्यों के सिद्धान्तानुसार ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्दर ही इसकी पूर्ण रूपेण पूर्ति हो जाती है, क्योंकि आश्रम में रहने वाले ऋषि मुनि साधु महात्मा शिष्य बालकों को शुद्ध सात्विक कन्दमूल फल और पत्तों के साग एवं गौ दुग्ध पान कराकर के और इसके साथ ही नैतिक यौगिक व्यायाम कराते हुये वेद शास्त्र उपनिषद आदि का अध्ययन कराते हुये समय पर प्राणायाम आदि की शिक्षा देते हैं तो २५ वर्ष की अवस्था से पहले ही वह बालक पूर्ण योगी बन जाता। पूर्ण योगी बनने के साथ-साथ जिस व्यक्ति ने वासना का दर्शन किया ही नहीं वह ऊर्ध्वरेता हो कर उस स्थिति में पहुँच जाता है जिसमें पहुँचने पर बाह्य विषय उसको आकर्षित कर ही नहीं सकते। ऐसी स्थिति में ब्रह्मचर्य आश्रम में ही जिसने पूर्णता प्राप्त करली है वह गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने के बाद अवश्य ब्रह्मचारी ही रहेगा। इन्द्रियों का क्षणिक आकर्षण उसको विचलित नहीं कर सकता। श्री मनुजी महाराज ने अपनी मनु स्मृति में इस ही बात को पूर्ण रूपेण स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त कर दिया है। श्री मनु स्मृति में मनुजी महाराज का स्पष्ट उल्लेख है कि—

ऋतुकालाभिगामिस्यात
स्वदार निरतः सदा।
ब्रह्मचार्येव एव भवति
यत्र तत्र आश्रमे वसन॥

अर्थात् जो व्यक्ति ऋतु कालानुसार अपनी पत्नी से सहवास करता है और उसमें ही पूर्ण प्रेम करता है उसका ब्रह्मचर्य व्रत भंग नहीं होता प्रत्युत ऐसी अवस्था में भी वह पूर्ण ब्रह्मचारी ही बना रहता है। ब्रह्मचर्य आश्रम की साधना में जिसने ऊर्ध्वरेतस्ता प्राप्त करली है एवं अपने प्राण कोष को ब्रह्मरंध्र तक खींचकर रोकता है फिर वह गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुये भी बिल्कुल स्वस्थ हो परि रहेगा और मुक्त बना रहेगा। इसके अतिरिक्त स्वदारनिरत योगी की पत्नी भी अवश्य योगिनी

ही बन जायगी। वह अपने पति के सहवास से स्वाभाविक शक्तिलाभ प्राप्त करेगी और उसके अन्दर भी पूर्ण रूपेण योग समाधि का प्रकाश हो जायगा। इस प्रकार जहाँ पर पति एवं पत्नी दोनों योगी हैं तो उनकी सन्तान भी उस ही प्रकार से ब्रह्मचर्य आदि का पालन कराये जाने पर योगी ही बन जायगी। गृहस्थ आश्रम के बाद वानप्रस्थ में प्रवेश कर जाने पर वह दोनों पति पत्नी ब्रह्मचर्य आश्रम के अन्दर की हुई कमाई को पुनः अपने अभ्यास काल में लाकर के चमका लेंगे और यह वानप्रस्थ आश्रम का समय अपने अभ्यास में और प्रकार से व्यतीत करते हुये वही लोग सन्यास आश्रम में प्रवेश करते हुये पूर्ण वीतराग होते हुये स्थान-स्थान पर जाकर के विशुद्ध प्रचार योग का बढ़ाते हुये हजारों व्यक्तियों के कल्याण के कारण बन जावेंगे। यह है हमारे प्राचीन आचार्यों के कथनानुसार व्यक्तियों में स्वच्छन्द प्रवृत्तियों का पालन करते हुये योग मुक्तता को पाने की विधि। आजकल का समय तो बहुत ही गये हुये भ्रष्टाचार का समय है। कदाचित् कोई व्यक्ति इन प्राचीन विचारों को अपने मस्तिष्क में बैठा लेगा, तो इस में कोई भी संशय की बात नहीं कि वह मनुष्य जीवन के अन्तिम लक्ष्य पूर्ण समाधिस्थ स्थिति को अवश्य-अवश्य पा जायगा।

सर्वे भवन्ति सुखिनः
सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु
मा कश्चिद्दुःख भाग्भवेत॥

ॐॐ

ॐ आत्म-विश्वास ॐ

जीवन को आदर्श और सुखमय बनाने के जहाँ अन्य अनेक साधन हैं, वहाँ आत्म-विश्वास भी एक मुख्य साधन है। आत्म विश्वास से मनुष्य उन्नत और महान् बन सकता है संसार में कठिन से कठिन कार्य कर सकता है। अभी तक जितने भी अलौकिक, अद्भुत और महान् कार्य हुये हैं, वे उन्हीं महान् आत्माओं द्वारा हुए हैं, जो पूर्ण आत्म-विश्वासी थे। जिनकी आत्माओं में अदम्य उत्साह तथा अटूट आत्म-विश्वास था। अतः हे प्रिय बन्धुओ! तुम अपने अन्दर अदम्य आत्म विश्वास को धारण करो। अपने को दीन, मलीन तथा तुच्छ तथा हीन मत समझो। अपने अन्दर वेद की इस महान भावना धारण करो—

"शुक्रोसि, भ्राजोसि, स्वरसि, ज्योतिरसि"

"हे मनुष्य तू महा बलवान् और शक्तिमान् है। शुद्ध पवित्र और निर्मल है, तू तेजस्वी और वर्चस्वी है, तू सुख और शान्ति का भण्डार है, तू सकल ज्योतियों की भी परम-ज्योति है।"

—पूर्णसार

ध्यान क्या और क्यों ?

❀ श्री विष्णु प्रसाद व्यास

यह जगत् दुःखों एवं विपत्तियों से परिपूर्ण है यदि आप संसार के कष्टों एवं दुःखों से मुक्त होना चाहते हैं तो आपको ध्यान का अभ्यास करना पड़ेगा। ध्यान ईश्वर की प्राप्ति का मार्ग है। यह ब्रह्म साम्राज्य की प्राप्ति के लिए राजपथ है। यह रहस्यमयी सिद्धि है जो पृथ्वी को स्वर्ग से, असत्य को सत्य से, अन्धकार को ज्योति से, दुःख को आनन्द से, अशांतियों को शांति से तथा मृत्यु को अमरत्व से जोड़ती है। ध्यान से आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है जिससे नित्य शान्ति तथा परम सुख की प्राप्ति होती है। ध्यान द्वारा आप पूर्णत्व का साक्षात्कार अथवा अपरोक्षानुभूति प्राप्त कर सकते हैं।

ध्यान शक्तिशाली टानिक है। यह मन तथा स्नायुओं को शक्ति प्रदान करता है। पवित्र स्पन्दन शरीर के सारे जीवकोषों में प्रवेश करते तथा रोग को दूर करते हैं। जो ध्यान का अभ्यास करते हैं वे डाक्टरों का बिल चुकाने से मुक्त रहते हैं। ध्यान के समय जो शक्तिशाली शांतिमय स्पन्दन उठते हैं उनका मन, स्नायु, शरीर के अङ्ग तथा जीवकोषों पर बड़ा ही अच्छा प्रभाव पड़ता है। इससे ऐश्वरीय शक्ति भगवान के चरणों से तैलधारावत् मुक्त रूप से बहने लगती है।

ध्यानपथ सुरङ्ग के समान अन्धकारमय है। दिन में पथिक सूर्य के प्रकाश के सहारे चलता है। सूर्यास्त होने पर चन्द्रमा के प्रकाश के सहारे, जब वह भी अस्त हो जाता है तो नक्षत्रों के प्रकाश का सहारा मिलता है और उसकी समाप्ति पर आत्मा का प्रकाश सहायक होता है। ध्यानकी भी यही अवस्था होती है। इन्द्रियां सूर्य हैं। मन, चन्द्रमा, संस्कार, नक्षत्र और इन सबके पार आत्मा का प्रकाश ही चरम प्रकाश है। इसलिए नित्य नियम पूर्वक ध्यानाभ्यास का समय साधकों को अवश्य निकालकर ध्यानानन्द की उपलब्धि करनी चाहिए। ❀

बीना, (मध्य प्रदेश)

शिव तत्व की प्राप्ति

व

निर्बीज समाधि में प्रवेश

● श्री जगदीश नारायण उपाध्याय

मेरे पूर्व के लेखों में वर्णित, यह अनुभव ज्ञान की प्रणाली, साधक की कोई अपनी बुद्धि की उपज नहीं है।

त्वम् (साक्षी ब्रह्म), असि (जीव ब्रह्म) के, विस्तृत एवं दुरूह वर्णन की भूमिका से जुड़ी हुई, ज्ञान, भक्ति, निष्काम कर्मयोग के समन्वय पर आधारित 'यत्र प्राणो लीयते तत्र मनो लीयते' वाली, योग शास्त्र के राजयोग की यह वैज्ञानिक प्रणाली, कोई और नहीं? माया प्रतिबिम्बित सत्पात्र (ईश्वर या सद्गुरु) पर आधारित, योग वाशिष्ठ की शास्त्रीय भूमिका को पहले से ही ज्ञात, गुरु परम्परा से चली आ रही, गुह्य ज्ञान की प्रणाली है। गीता शास्त्र इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। इसके अलावा अविद्या प्रतिबिम्बित (ईश्वर या सद्गुरु) कूटस्थ है, यह बात भी अपनी जगह पर सही है।

अब तक साधक की लिखी हुई, सारे अनुभव ज्ञान की बातें, इन्हीं समान सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले सद्गुरु परम्परा के अनुसार आते हुये, अतीन्द्रिय ब्रह्म सत्ता, सिद्ध महापुरुषों की दी हुई, अनुभव ज्ञान की बातें हैं, जिसका मूल कारण, भौतिकवाद का बढ़ता हुआ प्रभाव है। इसी भौतिकवाद के बढ़ते हुये प्रभाव के कारण ही, समय और परिस्थिति को देखते हुये, यह बात उन्होंने साधक को दी है।

साधक ने तो केवल 'ईश्वर या सद्गुरु' के अविशेष गुण, अचिन्त्य शक्ति, या योग माया के सहारे, अपने सूक्ष्म अन्तःकरण में ज्योतिर प्रकाश के रूप को, पूर्व जन्मों के संस्कार वश, अपने आराध्य देव 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' के प्रकाश का प्रतिबिम्बित ज्ञान करके—उसके सौम्य रूप या (सगुण रूप) का, अपने कारण शरीर में 'शब्द ब्रह्म' के रूप में उसी प्रकार उसके विराट् रूप या (निर्गुण रूप) का, अपने भाव शरीर में 'अक्षर ब्रह्म' के रूप में, आत्म समर्पण भाव से निष्ठा पूर्वक आराधनात्मक चिन्तन कर लिया था। परन्तु 'सद्गुरु' या 'ईश्वर' ने, अपने अविशेष गुण योग माया से साधक के विशेष गुण-महाभाव

व गुरु संकल्प-शक्ति को पहचान कर, उसके भीतर छिपी पूर्व जन्म की स्मृतियों को जाग्रत कर दिया। उसे अपने भीतर समता की योग्यता प्रदान करदी। तथा अनादि सम्बन्ध गुरु पर-म्परा से चले आ रहे, समान सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले, अन्यान्य सिद्ध महा-पुरुषों से जोड़कर राजयोग की इस क्रियात्मक वैज्ञानिक प्रणाली की इस विधि का पुनः उसे अनुशीलन समझाया। जिसके कारण आगे चल-कर चेतन पुरुष (ब्रह्म) तथा प्रकृति पुरुष (शक्ति) का संयोग प्राप्त हुआ। और अन्त में चलकर 'सद्गुरु' या 'पार' ब्रह्म की प्राप्ति हुई।

इन सारे क्रिया-कलापों का मूल कारण ब्रह्मा द्वारा की गई, इस सृष्टि रचना के प्रथम चरण से ही, इस सूक्ष्म चेतना लिंग मूल कारण शरीर में, अविशेष गुण के रूप में साधक के भीतर व्यापक भाव से छिपा, उसी प्रकार ब्रह्मा द्वारा रचित तामसी, महामाया के साथ सृजन के समय की गई, इस सृष्टि रचना के द्वितीय चरण से ही, पूर्व द्वारा प्राप्त, इस स्थूल लिंग भूत, केवल बिन्दु मात्र (महत्) कार्य शरीर में, विशेष गुण के रूप में साधक के भीतर व्यक्त भाव में, आत्मा के भीतर छिपा, अविद्या के स्थान पर विद्या गुण है। जो साधक के प्रकृति के भीतर जन्म जन्मान्तर से चला आ रहा है। उसी का परिणाम था कि शक्ति रूपी गुण वाले अनिर्णित गुण सम्पन्न 'सद्गुरु' या 'ईश्वर' की, पराप्रकृति से, निकली चिन्मय प्रकाश की किरणें, विशेष गुण युक्त साधक, के इस सूक्ष्म पञ्चभौतिक कारण शरीर के भीतर विद्यमान, अति सूक्ष्म आकाश से निकली, अति सूक्ष्म भूत तन्मा-त्राओं से मिलकर, चेतन पुरुष या (लिंग पुरुष) के रूप में, जंजीर की तरह ऊँचा उठकर, प्रका-शक सम्पत्ति फैल गई है। इसी प्रकार उसीका ही परिणाम था कि ज्ञानेन्द्रियाँ (स्नायु केन्द्र) व मस्तिष्क के भीतर छिपा, इच्छा मात्र गुण सम्पन्न-विशेष गुण युक्त महतत्व वाले प्रकृति पुरुष (आत्मा) के अनेक—तेजसगुण सम्पन्न इच्छा संकल्प शक्ति वाली प्रकाश किरणें—साधक के कार्य शरीर या (लौकिक शरीर) के भीतर निश्चयात्मक बुद्धि या (महत् बुद्धि) के पीछे बिन्दु की भांति उठे हुये प्रकाश रश्मि स्फुलिंग से टकरा कर (जो अब अभिमान के नष्ट कर देने पर प्रकाशित हो चुकी है) गुणात्मक जंजीर का आकार बना कर की तरह मिल गई है। और अब यही प्रकाशित आत्मा की किरणें मिलकर फिर अणु कणों के समान ऊँचा उठ-कर, आकाशीय तत्व ईश्वर जैसा, अमृतमय देश (चिदाकाश) में, 'सद्गुरु तत्व' या 'पार-ब्रह्म' के रूप में प्रकाशित हो गई है।

यह जो चारों अवस्थाओं का संयोग विज्ञान मय कोष से मिलकर गुणवत्ता के रूप

में प्रतिबिम्बित हुआ है। यह सब इसी राजयोग के साधन क्रिया से युक्त वैज्ञानिक प्रणाली के कारण, सुषुप्ति की अवस्था से परे ज्ञानातीत ज्ञान की अवस्था में पहुँच जाने पर, आध्यात्मिक तत्वों पर आधारित स्वच्छ ज्ञान में छिपे विज्ञानरूप के कारण है। इन्हीं सबके कारण तो ही भिन्न-भिन्न लिंग वाले, प्रकृति वाले, सिद्धान्त वाले, तथा केवल पुरुष व प्रकृति पुरुष मिलकर एक हो गये हैं।

वर्तमान समय में जो माया प्रतिबिम्बित सगुण 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' अपने साक्षी की सहायता से सहज ही हुआ, चिदाकाश में उदः कर प्रकाशित हुआ है, वह इसी माया रूपी उपाधि के कारण है। जो धर्म की हानि को देखते हुये काल के विशेष अनुग्रह पर निर्भर है।

शास्त्रों में वर्णन पाया जाता है—जिस उपाधि के धर्म जिसमें प्रतीत हों, वह उपाधि उसका विशेषण हो जाती है। तथा जो उपाधि जिस पदार्थ में अपने धर्मों का आरोपण (स्थापन) न करके केवल उसको ज्ञात कराये, सो वह उपाधि उस पदार्थ की उपाधि कहलाती है। इस रीति से माया और अविद्या या अन्तःकरण क्रमशः ईश्वर या जीव के उपाधि हैं। ईश्वर का शुद्ध स्वरूप जो माया का अधिष्ठान ब्रह्म है, वह न तो सृष्टि करता है, न प्राणियों को कर्म फल देता है, न अवतार लेता है, और वह भक्तों पर अनुग्रह भी नहीं करता है।

पातञ्जल योग दर्शन ने इस आशय की पुष्टि निम्नलिखित सूत्रों में की है—

विशेषाविशेष लिंग मात्रालिंगानि गुणपर्वाणि ।

(२-१९)

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोपि प्रत्ययानुपश्यः ॥

(२-२०)

वर्तमान युग में, भौतिकवाद के बढ़ते हुये प्रभाव के कारण ? परिणाम, ताप, संस्कार, गुण वृत्ति विरोध, प्रकृति जन्य दुःख से दुःखी, विवेकात्मक बुद्धि वाला, धर्म, जिज्ञासु, आस्तिक साधक, आस्तिक परिवार परम्परा से आया हुआ योगी है। यह बात प्रायः सिद्ध है। परन्तु तत्व जिसके भी भीतर विद्यमान है, वह चाहे जो, चाहे वह किसी वर्ग, जाति, राष्ट्र, धर्म व पेशे का साधक हो, अपने नैतिक आदर्शों का पालन करता हुआ, ज्ञान के अनुसार लौकिक, भावना के अनुसार पारलौकिक जगत को देखते हुये, अपने अन्तःकरण में, अपनी श्रद्धानुसार, भाव भक्ति से 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' को सत्य मानकर, राजयोग के इस निष्काम कर्म वाली साधना प्रणाली से, धीरे-धीरे अपने पूर्व प्रकृति को बदलकर, अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है। इन सारे दुःखों से छुटकारा पा सकता है तथा आगे

बनकर अपने आपको जीवन मुक्त साधक बना सकता है।

डारविन के परिणामवाद (विकासवाद) सिद्धान्त योन निर्वाचन (Sexual Selection) और योग्यतम की उत्तरजीविता (Survival of the fittest) की अपेक्षा, प्राचीन परिणामवादी सिद्धान्त देने वाले भारतीय योगी, महापुरुष पतञ्जलि का विकासवाद सिद्धान्त काफी श्रेष्ठ है। महर्षि पतञ्जलि ने कैवल्य पाद के सूत्र के भीतर इसकी व्याख्या इस प्रकार की है—

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरण-भेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत् ।

सत् और असत् कर्म प्रकृति के परिणाम (परिवर्तन) के प्रत्यक्ष कारण नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति में जो पूर्णता पहले से ही निहित है, परिणामवाद (विकासवाद) उसी की अभि-व्यक्ति मात्र है। सारी होड़ बन्द हो जाने पर भी, जब तक हम में से प्रत्येक व्यक्ति पूर्ण नहीं हो जाता, तब तक हमारे भीतर निहित यह पूर्ण स्वभाव हमें क्रमशः उन्नति की ओर, अग्र-सर करता रहेगा। अतः यह विश्वास करने का कोई कारण नहीं कि होड़ या प्रतियोगिता उन्नति के लिये आवश्यक है। पशु के भीतर मनुष्य गूढ़ भाव से निहित है। उसी प्रकार मनुष्य के भीतर जो देवता गूढ़ भाव से विद्य-मान है, केवल अज्ञान का आवरण उसे प्रका-शित नहीं होने देता। जब ज्ञान इस आवरण को चीर डालता है, तब भीतर का वह देवता प्रकाशित हो जाता है। और आध्यात्मिक मनुष्य अपनी आत्मा की गहराई में सत्य की साक्षात् अनुभूति से अपने जीवन की सम-स्याओं का मौलिक हल पा लेता है। हमारे भीतर एक सत्ता है जो हमारे मन के बाह्य और भीतरी कार्य-कलापों की शाश्वत साक्षी है। जब तक हम आत्मरूप सत्ता का साक्षात्कार अपने भीतर नहीं कर लेते तब तक अपने से बाहर उसकी एक झलक पाना भी सम्भव नहीं है।

योग शास्त्र की राजयोग प्रणाली की प्रकृति निरोध की भूमिका, इसी विकास वाद सिद्धान्त (अपरोक्ष ज्ञान) के ऊपर निर्धारित है। इसके अलावा योग शास्त्र के दूसरे प्रणालियों की प्रकृति निरोध भूमिका, जो स्वास्थ्य की रक्षा तथा कल्याण दृष्टिकोण से 'निरोध ज्ञान' पर निर्धारित है। वह भी अपने स्थान पर बिल्कुल ठीक है।

भारतीय योग दर्शन (पातञ्जल योग दर्शन व योग वासिष्ठ) तथा गीता शास्त्र में उद्धृत योग शास्त्र के राजयोग प्रणाली का निर्माण, योगेश्वर भगवान कृष्ण एवं भारतीय ऋषिगण द्वारा किया गया था। इस प्रणाली का निर्माण उन्होंने सम्पूर्ण मानवतावादी दृष्टिकोण, मानव संरक्षण की भावना व

चरित्र निर्माण की आशा से—व्यापार संसारी साधकों के लिये अध्यात्म के साथ भौतिकता का सामञ्जस्य स्थापित करके, तथा उसके आधार उपनिषद् (नहिवादी-अद्वैतवादी-सामान्य-वादी-संरचना) की भूमिका में हुए रहकर, उनके जैसे भूमिका मानव होकर धर्म का पालन करते हुये, साधना करने के लिये ही लिया था परन्तु दुःख है कि, गीता, सांख्य व भारतीय योग दर्शन से वंचित गुरु परम्परा से चली आती आत्मविज्ञान से युक्त इस गूढ़ योग की प्रणाली राजयोग को, इसका विशेष महत्व न समझाते हुये, या इस प्रणाली का ज्ञान न होने के कारण इसे भूल गये। परन्तु आज के युग में भौतिकवाद के बढ़ते हुये प्रभाव के कारण मानव जाति के रक्षा के लिये, तथा भौतिकता के कारण दुःखी लोगों को आध्यात्मिक सुख के लिये इस भूमिका की पुनः आवश्यकता महसूस हुई है। अतः आप सभी साधकों से इस साधक का अनुरोध है कि आप सभी साधक! सद्गुरुओं द्वारा दी गई, राजयोग की इस वैज्ञानिक प्रणाली का ज्ञान व गीता सांख्य का यह मानवतावादी संदेश को—बहुजन हिताय—बहुजन सुखाय, सर्व दुःख निवारणार्थ, ईश्वर दीर्घतम लोक संग्रह की भूमिका, आत्म-कल्याण की आशा, व मधुरता, कटुता... की भावना से लिया गया है। इस मानवतावादी संदेश को, अन्यान्य सुदूर देशों में रहने वाले

प्राणि तक पहुँचायें, यही साधक की भूमिका है।

इस सारे साधना प्रणाली की भूमिका में साधक की अपनी भाव, केवल ध्यान भाव में छिपा, महाभाव व दृढ़ संकल्प शक्ति है। इसी दृढ़ संकल्प व महाभाव के कारण ही साधक ने अपने इस कारण शरीर व कार्य शरीर में, भाव व अपार शक्ति द्वारा अव्यक्त भाव से, व व्यक्त भाव से, अपने आराध्य देव 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' के लीला व विराट रूप को आत्म समर्पण भाव से मान मानकर साधना की है। जिसके कारण ही उसके भीतर मानसिक चेतना जागृत हुई है, 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' के सामने अन्तः रूप से आत्म समर्पण हुआ है। इसी आत्म समर्पण भाव के कारण ही अन्तः करण में अव्यक्त भाव में उठे श्रद्धा, प्रेम, विरह, व विरह वेदना प्रवाह को, व निश्चयात्मक बुद्धि व ध्यान भाव में उठे मानसिक प्रतिक्रिया स्वरूप संवेदना प्रवाह को, राजयोग के 'प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य' जैसे वैज्ञानिक क्रिया से समान प्रवाह के रूप में बदलकर और इसे 'यथ प्राणो जीवति तथा सभी जीवाः' द्वारा प्राण व मन के भाव जोड़कर ही, साधक ने अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, कोष को शुद्ध किया है। तथा धीरे-धीरे उसे उठाते हुये ज्ञान के विभिन्न सोपानों से गुजर कर, अन्त में ज्ञान से युक्त ज्ञानातीत अवस्था का यह अनुभव ज्ञान तक पहुँचाने वाला सोपान प्राप्त किया है।

आध्यात्मिक जीवन का एक महत्व पूर्ण नियम यह है कि, जिसे हम सत्य समझते हैं, वह हमारे समस्त मन प्राण को अपनी ओर खींच लेता है। यदि हम संसार को ही एक मात्र सत्य मानें, तो उसका हम पर बहुत प्रभाव पड़ेगा। यह मान्यता हमारे मन और इन्द्रियों को बहिर्मुखी बना देगी लेकिन यदि हम अन्तर जगत को सत्य मानें, तो अपने मन को अन्तर्मुखी करना हमारे लिये सरल हो जायेगा। अतः साधन के पहले का एक कारण यह भी था, कि उसमें पहले ही, आत्मसमर्पण भाव से निष्काम कर्म द्वारा, अपने 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' को अन्तर जगत में, सत्य मान लिया था, और तत्व के सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा बना ली थी।

'ईश्वर' या 'सद्गुरु' व 'आत्मा' प्रत्येक प्राणियों के अन्तःकरण व विज्ञान रूप कोष में स्थित है, और उसके भीतर सम्यक रूप विद्यमान है। इसकी पुष्टि गीता शास्त्र, उपनिषदों व मुनियों द्वारा की गई है। उदाहरणार्थ—

ईश्वरः सर्वभूतानां
हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि
यन्त्रारूढानि मायया॥
(गीता १८/६१)

बीजं मां सर्वभूतानां
विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि
तेजस्तेजस्विनामहम्॥
(गीता ७/१०)

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा
देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु।
कर्माणि विज्ञानमयश्च
आत्मापरेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति।
यथा नद्यः स्यन्दमानाः
समुद्रेऽस्तंगच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः
परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।
(मुण्डकोपनिषद ३/२/७/८)

न व्यापित्वा देशतोऽन्तो
नित्यत्वान्नापि कालतः।
न वस्तुतोऽपि सर्वात्मा
आनन्त्यं ब्रह्मणि त्रिधा।
(पञ्चदशी)

"सर्वव्यापी होने से आत्मा में किसी देश से उसका अन्त नहीं है सर्वदा रहने से किसी समय में भी उसका अन्त नहीं है, और सर्व-व्यापी होने से किसी वस्तु से भी उसका अन्त नहीं है। इस प्रकार ब्रह्म में तीनों प्रकार की अनन्तता है।"

नाम व शब्द का यहाँ क्या प्रश्न है? संसार के प्रायः सभी मनीषियों व भाषाविदों ने यह स्वीकार किया है कि एक ही वस्तु के

बाहरी भाग को शब्द और अन्दर भाग को विचार या भाव कहते हैं। कोई व्यक्ति विशेषण के मन में विचार को शब्द से अलग नहीं कर सकता। जब से मनुष्य विद्यमान है, तब से शब्द और भाषायें रहा है। अब बात यह है कि एक भाव और एक शब्द में परस्पर क्या सम्बन्ध है। यद्यपि हम देखते हैं कि एक भाव के साथ एक शब्द का रहना अनिवार्य है, तथापि ऐसा नहीं कि एक भाव एक ही शब्द द्वारा प्रकाशित हो। भिन्न भिन्न देशों में भाव एक ही होने पर भाषायें बिल्कुल भिन्न हो सकती हैं। प्रत्येक भाव को प्रकट करने के लिये एक न एक शब्द की आवश्यकता अवश्य होगी, किन्तु इस एक भाव के प्रकाशक शब्दों का एक ही उच्चारण-विशिष्ट होना कोई आवश्यक नहीं। विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न उच्चारण विशिष्ट शब्दों का व्यवहार होगा। हमारे भाष्य के टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने एक भाव और एक शब्द में परस्पर क्या, सम्बन्ध है इसकी व्याख्या इस प्रकार की है।

सर्वे एव शब्दाः सर्वाकारार्थाभिधान समर्था।

यद्यपि भाव और शब्द का परस्पर सम्बन्ध स्वाभाविक है तथापि एक शब्द और एक भाव के बीच एक नितान्त अलंघनीय सम्बन्ध ही रहे, ऐसी कोई बात नहीं। यद्यपि ये शब्द भिन्न भिन्न होते हैं, तो भी शब्द और भाव का परस्पर सम्बन्ध स्वाभाविक है। अतः यह बात निश्चित है कि इस शब्द को बोलने वाले भी होंगे तथा वह शब्द भी होगा और उनका परस्पर सम्बन्ध भी होगा। यदि वाच्य और वाचक के बीच प्रकृत सम्बन्ध रहे, तब यह कहा जा सकता है कि भाव और शब्द के बीच परस्पर सम्बन्ध है। यदि ऐसा न होता तो यह वाचक शब्द कभी सर्व साधारण के उपयोग में नहीं आ सकता। वाचक वाच्यार्थ का प्रकाशक होता है। यदि यह वाच्य वस्तु पहले से अस्तित्व में रहे, और हम यदि पुनः पुनः परीक्षा द्वारा यह देखें कि उस वाचक शब्द ने उस वस्तु को अनेक बार सूचित किया है, तो हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि वाच्य और वाचक के बीच यथार्थ सम्बन्ध है। यदि वाच्यार्थ न भी रहे, तो हजारों मनुष्य उसके वाचकों के द्वारा ही उस का ज्ञान प्राप्त करेंगे। इसी वाच्य और वाचक के बीच स्वाभाविक सम्बन्ध स्थापित करने के लिये और वाच्य पदार्थ की याद मन में लाने के लिये ही उन्होंने प्राण और मन को जोड़ने वाली राजयोग की इस 'प्रच्छर्दन विधारणाभ्याम् वा प्राणस्य' प्रणाली को साधक को दिया है।

इसी के कारण साधक ने श्वास-प्रश्वास से मन को रोके वाले या जिनके माध्यम से

उन्होंने मन्त्र की दीक्षा दी है, उस 'सद्गुरु' या 'ईश्वर' के रूप का ध्यान तथा जिस अर्थों के लिये दिया गया है उस भाव का विश्वास अपने अन्तःकरण और निश्चयात्मक बुद्धि में स्थान-स्थ किया है। उसी शब्द के भाव को सम-झते हुये, बारम्बार उच्चारण करने से ही, जो शरीर के भीतर से एक प्रवाह या स्पन्दन उत्पन्न हुआ है। जिसने दक्षिण हृदय से प्राण शिराओं के आश्रय से होकर हुई तरंगों को भेजकर मस्तिष्क में पहुँचा दिया है। जिसके कारण ही 'सद्गुरु' या 'ईश्वर' साधक के भाव को जान सका है, कि यह हमारा पूर्व कर्मों से सम्बन्धित, हमारे और आत्मिक विशुद्ध भावों वाला प्राणी, भक्त साधक है तथा इसकी इच्छा लोक कल्याणार्थ, जो लोग भौतिकता के कारण दुःखी है वह जो लोग मुक्त हुआ चाहते हैं, उनका ध्यान इस तरफ आकर्षित करना है। इन्हीं सब कारणों से साधक को भौतिक जगत से अलग रखने, तथा शुद्ध चैतन्यादि पदार्थों को प्रकाशित करने के लिये ही—उसे अविद्या रूप के रूप में 'अज्ञा-नात्मक असत्स्वभाव या माया स्वरूप की मोहि-माया' की मोहमाया, इसके कारण जगत में चेतन पुरुष के माध्यम से ज्ञान प्रदान की है। तथा उसी प्रकार न चाहते हुये भी, केवल अपने भक्त की इच्छा रखने के लिये,—सीमित संग्रह की उपेक्षा व अपने गुरु या भगवान की मानना से बाहर की भूमिका से ऊँचा उठी भक्त की मनोबल से जोड़ने वाली, विशेष गुण युक्त 'युज्यते संश्लिष्यते इति योगः' यह बहुतों अथवा त्रिगुणात्मिका 'माया' की भूमिका को यहाँ द्वारा व्यक्त भाव में सृष्टि रचना के द्वितीय काल से पूर्व प्रथम आध्यात्म लोकों को दी गई थी, वह त्रिगुणा से रहित आध्यात्-मिक भूमिका, इस कार्य शरीर के विज्ञान-मय कोश में प्रदान कर दी है। जिसके कारण ही साधक को आगे चलकर चारों सम्प्रज्ञात समाधियों की प्राप्ति हुई है। तथा असंप्रज्ञात समाधि में शब्द अर्थ ज्ञान का पूर्ण भाव संयोग स्थापित हुआ है।

इस योग रहस्य की बात व शब्द, अर्थ, ज्ञान के आशय की बात, श्री पुष्टि श्रीमद्भाग-वत पुराण व गीता शास्त्र, तथा पातञ्जल योग दर्शन में निम्न शब्दों से की है।

भगवानपि ता रात्रिः
शरदोत्फुल्ल मल्लिकाः।
वीक्ष्यरन्तुं मनश्चक्रे
योग माया मुपाश्रितः ॥
(दशम स्कन्ध/२९/१)

दैवी ह्येषा गुणमयी
मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते
मायामेतां तरन्ति ते ॥
गीता (७/१४)

तदवस्थायां द्रष्टा न [illegible]-

सात् संकरस्तत्प्रविभाग संयमात् सर्व-भूतरुत ज्ञानम्।

(पातञ्जल योग सूत्र ३/१७)

योग विषय अनन्त तथा अमेय है। अतः पूर्वाचार्यों ने इसकी भिन्न-भिन्न परिभाषायें की है। ऐसे गूढ़ तथा कठिन विषय का अनेक प्रकार से समीक्षण किया जाना एक प्रकार से इसके महत्व का सूचक है। योग शब्द प्रसङ्गानुसार अनेक अर्थों में पाया जाता है। अतः इसका छोटे में अर्थ करना ठीक नहीं है। कोई योग का अर्थ 'योग समाधि' है ऐसा करता है तो किसी के अनुसार अष्टाङ्गयोग द्वारा 'योगश्चित्त वृत्तिनिरोधः' वाली चित्त वृत्ति का निरोध करना ही योग है, यह बतलाया गया है। कुछ लोग योग का अर्थ 'समत्वं योग उच्यते' अनुसार करना मानते हैं तो किसी के मत में 'युञ्जते तस्य योगः' दो भावों का मिलाप ही योग है ऐसा किया गया है। लेकिन गवेषणा करने पर पता चलता है कि, योगाचार्य भगवान पतञ्जलि जी ने 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः' यह कहकर ही योग शब्द को अभिव्यक्त किया है। जिसका अर्थ है चित्त वृत्तियों का निरोध होना। 'चित्त वृत्तीनाम् निरोधः' अर्थात् चित्त वृत्तियों का नितान्त रुक जाना योग है, सबसे उपयुक्त है। भगवान पतंजलि देव ने जहाँ पर 'योगश्चित्त वृत्ति निरोधः' यह बात कहकर योग का लक्षण किया वहाँ पर उसके साथ ही साथ 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' 'उसके द्रष्टा ईश्वर के स्वरूप में जीवात्मा का स्थित होना' स्पष्ट बतला दिया गया है। इस सूत्र पर भाष्य लिखते हुये श्री व्यासदेव जी ने बिल्कुल स्पष्ट किया है 'स्वरूप प्रतिष्ठा तदानीं चिति शक्तिर्यथा कैवल्ये' अर्थात् चिति शक्ति जैसी कैवल्य में होती है वही स्वरूप प्रतिष्ठा का यहाँ अर्थ है। स्वरूप प्रतिष्ठा, कैवल्य की प्राप्ति सर्वथा चित्त वृत्तियों के निरोध से, सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात समाधियों के अभ्यास द्वारा होती है। इसीलिये योग की सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात दोनों ही अवस्थाओं का नाम योग है। अतः साधक ने, पूर्व जन्मों के संस्कार वश अपने निरोध गुण के कारण, उत्पत्तम् सोपान भाव अवस्था समाधि असम्प्रज्ञात समाधि को अपने बुद्धि से मान लिया है। जिसके कारण ही सदसद् विवेकमयी बुद्धि से वह जान सका है, कि वह पुरुष प्रकृति से भिन्न है वह भूत नहीं है, मन नहीं है और प्रकृति भी नहीं है, इसलिये उसका किसी प्रकार का परिणाम असम्भव है। केवल प्रकृति में ही सर्वथा परिवर्तन हो रहा है या प्रतिक्षण विलोपन हो रहा है। अब यदि हम निरन्तर अभ्यास के द्वारा विवेक लाभ करेंगे, तब अज्ञान चला जायेगा, और पुरुष अपने स्वरूप में अर्थात् सर्वज्ञ, सर्व शक्तिमान और सर्व व्यापी रूप में प्रतिष्ठित हो जायेगा।

उसी अज्ञानता को हटाने व अतः नहीं।

की योग वाशिष्ठ के मतानुसार शुभेच्छा (अन्तःकरण की शुद्धि) विचारणा (विचार जनित ज्ञान) तनुमानसा (गहन ज्ञान) सत्वापत्ति (आत्मस्थित ज्ञान) में बदलने के लिये हुआ साधक ने भौतिक स्तर पर स्थूल समाधि, मानसिक स्तर पर सूक्ष्म समाधि, आध्यात्मिक स्तर पर सूक्ष्मतम समाधि का, राजयोग के इस क्रमागत प्रणाली द्वारा, आत्म समर्पण भावना में सतत् अभ्यास किया है। जिसके कारण ही तो इसके व्यक्तित्व का विकास हुआ है, अन्नमय, प्राणमय, मनोमय कोष की शुद्धि हुई है, और इसका अन्तर मन बदलकर शुद्ध व संयमित हो गया है। इसी प्रकार मन के शुद्ध व संयमित हो जाने के कारण ही उसे शब्द, अर्थ, ज्ञान से युक्त इस विवेक पूर्ण सविकल्प समाधि की साधक को प्राप्ति हुई है।

यह सब उसी राजयोग के क्रमागत प्रणाली का खेल है। जिसका एक कारण संश्लेषण–विश्लेषण क्रिया से युक्त अन्तर प्रकृति को मानकर असम्प्रज्ञात योग की साधना भी है।

राजयोग साधना का मुख्य ध्येय (ऐहिक पदार्थों के प्रति अनासक्ति पूर्वक ब्रह्म साक्षात्कार या उसकी प्राप्ति) है। अतः सिद्ध होता है कि योग रूपी परीक्षा का मूल विषय अनासक्ति और फल ब्रह्म प्राप्ति है। इसी फल ब्रह्म प्राप्ति के लिये ही साधक ने, गीता शास्त्र के मतानुसार कर्म कारण के रूप में 'शिव' या 'शिव' कामना या 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' जीवनबंध का अपने इस कारण शरीर में अव्यक्त भाव में छिपे 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' के रूप को निष्काम भाव से अपने सूक्ष्म अन्तःकरण में सत्य मान लिया है। और उसे मानकर उसकी प्राप्ति के लिये आत्म-समर्पण भाव से श्रद्धा, विश्वास, पूर्वक निष्काम भाव से योग साधनादि कर्म किया है। जिसके कारणस्वरूप ही उसके भीतर से आध्यात्मिक सुख उत्पन्न हुई है। और जिसके फलस्वरूप ही यह 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' का तत्त्व के रूप में कुछ समय के लिये सत्सङ्ग लाभ प्राप्त कर सका है। उसी का परिणाम है कि, साधक इस समय दैवी शक्ति का अनुभव अपनी रगरग में करने लगा है। वही शक्ति प्रवाह इस समय साधक के दूसरी शक्ति प्रवाह का माध्यम बन गई है जो शक्ति मानव जाति के कल्याण में संलग्न है। साथ ही साथ उसी गीता शास्त्र के मतानुसार, सम-भावना के रूप में सबके प्रति सौहार्द, प्रेम के लिये समतावादी दृष्टि देन से उसने:—लोक संग्रह की शुभेच्छा, आत्म कल्याण की भावना व ज्ञान मनाये, अपने इस कार्य शरीर में अव्यक्त भाव में छिपे 'निश्चयात्मक बुद्धि' या 'वृत्ति' के भीतर 'आत्मा' को अनासक्ति पूर्वक अपने अन्तः प्रकृति में स्थिति बुद्धि में निष्ठा के साथ मान लिया है। जिसके प्रतिक्रिया स्वरूप ही धीरे-धीरे उसके सूक्ष्म अहङ्कार का नाश हुआ है। उसी के अनुसार

उसके व्यक्तित्व का विकास हुआ है। तथा कुछ अर्थों में उसने अपने दुःखों से छुटकारा प्राप्त किया है। यह उसी का परिणाम है कि अब उसे कई अर्थों में आत्म सुख का अनुभव हो रहा है। आप जानते हैं कि कर्म सर्वत्र संसार के लिये होता है, योग सर्वत्र अपने लिये होता है। 'योग' के लिये 'करना' नहीं होता, वह तो स्वतः सिद्ध है। अपने अपने कर्तव्य (स्वधर्म) का पालन करने से 'योग' सिद्ध होता है। अतः यह 'करना' भी वास्तव में न करने के लिये अर्थात् 'करना' समाप्त करने के लिये है। ध्यान में जो आरूढ़ नहीं है, ऐसे समत्व बुद्धि रूप योग में आरूढ़ होने की इच्छा करने वाले व्यक्ति को अनासक्ति पूर्वक निष्काम भाव से कर्म ही उपयुक्त है।

अतः साधक ने इसी 'करना' पक्ष को समाप्त करने और योगारूढ़ होने के लिये ही 'आत्मा' व 'परमात्मा' स्वरूप 'ईश्वर' या 'सद्गुरु' को इस शरीर में मानकर अनासक्ति पूर्वक निष्काम भाव से राजयोग की इस वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा योग-साधन किया है। अब तक जो इस साधना प्रणाली से उपलब्धि हुई है उसमें एक कारण अनासक्ति भाव से निष्काम कर्मयोग भी रहा है। गीता शास्त्र ने साधक के इस निष्काम भाव की पुष्टि इन शब्दों में की है—

उद्धरेदात्मनात्मानं
नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धु-
रात्मैव रिपुरात्मनः॥
(गीता ६/५)

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं
कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव
शमः कारणमुच्यते॥
(गीता ६/३)

श्रद्धावांल्लभते ज्ञानं
तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्ति-
मचिरेणाधिगच्छति॥
(गीता ४/३९)

अभिप्राय यह है कि योगारूढ़ता कल्याण का मुख्य हेतु है इसलिये मनुष्य को चाहिए कि अपना उद्धार आप करे स्वयं को अधोगति की ओर न जाने दे? मनुष्य स्वयं ही अपना मित्र और स्वयं ही शत्रु है। दूसरा कोई मित्र-शत्रु नहीं है।

समत्व बुद्धि रूप योग में आरूढ़ होने की इच्छा वाले मननशील पुरुष के लिए योग की प्राप्ति में निष्काम भाव से कर्म करना ही हेतु कहा है। भगवत प्रभु की प्राप्ति में श्रद्धा भी विशेष सहायक होती है।

इसके साथ ही यह भी जरूरी है कि ज्ञान प्राप्ति के लिये साधक पूर्ण जितेन्द्रिय और आत्मवश भी बना रहे।

क्रमशः

चित्त एवं चित्त-भूमि

श्री सुरेन्द्रबहादुर सिंह

मूल प्रकृति जड़ तथा त्रिगुणमयी है। सत्त्व, रज, तम—इन्हीं तीनों गुणों से प्रकृति बनी हुई है। सत्त्व का धर्म प्रकाश, रज का धर्म क्रियाशीलता तथा तम का धर्म स्थिति अथवा प्रतिबन्धकत्व है। ये गुण स्वभावतः परिणामधर्मी हैं। इनमें दो प्रकार के परिणाम होते हैं—साम्य परिणाम तथा विषम परिणाम। साम्य परिणाम की अवस्था में सत्त्व का सत्त्व में, रज का रज में तथा तम का तम में परिणाम होता है। गुणों की साम्यावस्था को ही अव्यक्त मूल-प्रकृति कहते हैं, अथवा इसी को प्रधान भी कहते हैं। गुणों की साम्यावस्था अव्यक्त होने के कारण पुरुष (आत्मा) के लिए अर्थहीन होती है। पुरुष का प्रयोजन भोग और अपवर्ग है। इस प्रयोजन की सिद्धि गुणों के विषम परिणाम से ही सम्भव है। यद्यपि ये तीनों गुण परस्पर विरोधी होने के कारण एक साथ मिलकर किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं हो सकते, फिर भी जैसे तैल, तूलिका, अग्नि परस्पर विरुद्ध होने पर भी आपस में विरोध छोड़कर अन्धकार नाश करने एवं पदार्थों को प्रकाशित करने में प्रवृत्त होते हैं उसी प्रकार तीनों गुण आपस में विरोध त्यागकर भोग और अपवर्ग रूप पुरुषार्थ के लिए आपस में मिलकर कार्य करते हैं।

पुरुषस्य दर्शनार्थं
कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य ।
पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि
संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥
प्रकृतेर्महांस्ततोऽहंकार-
स्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः
पञ्चभूतानि ॥
(सां०का० २१, २२)

अर्थात् पुरुष और प्रधान का संयोग दर्शन तथा कैवल्य के लिए होता है। प्रधान भोग्य है, अतः उसके भोगात्मक दर्शन के लिए उसे आत्मा की आवश्यकता है। इसी प्रकार प्रकृति-पुरुष-भेद-ज्ञान का कैवल्य के लिए आत्मा को प्रकृति की आवश्यकता है। दोनों पंगु और अन्धे के समान एक-दूसरे की सहायता करते हैं। इसलिए भोग तथा अपवर्ग के लिए ही प्रकृति-पुरुष संयोग से महदादि सृष्टि होती है। त्रिगुणात्मक मूल प्रकृति से महत् और उससे अहंकार का

आविर्भाव होता है। अहंकार से ग्यारह इन्द्रियां तथा पाँच तन्मात्राएं इन सोलह पदार्थों का समूह उत्पन्न होता है। पाँच तन्मात्राओं से पाँच महाभूत उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सृष्टिक्रम में सर्वप्रथम आविर्भाव महत्तत्व का होता है। इस महत्तत्व को सांख्यदर्शन में बुद्धि कहा गया है किन्तु योग-दर्शन में इसी को चित्त कहा जाता है। चित्त ही पुरुष को गुणों का साक्षात्कार कराने का साधन है। मन, बुद्धि और अहंकार चित्त में ही सम्मिलित हैं। वास्तव में ये सब चित्त के ही पर्याय हैं। संकल्प-विकल्प करने के कारण इसे मन कहा जाता है, निर्णय तथा निश्चय के कारण बुद्धि, अहंभाव पैदा करने के कारण अहंकार तथा संस्कारों का भण्डार होने के कारण इसे चित्त कहा जाता है। इसी को वेदान्त में अन्तःकरण-चतुष्टय नाम दिया गया है। चित्त ही गुणों का प्रथम विषम परिणाम है। इसमें सत्वगुण प्रधान रहता है तथा रज और तम गौण रहते हैं। चित्त में अहंकार बीजरूप में रहता है। चित्त एक दर्पण के समान है जो पुरुष को सभी प्रकार के विषयों को प्रत्यक्ष कराता है। चित्त ही वृत्तिमात्र से सूक्ष्म शरीर के साथ एक स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे स्थूल शरीर में प्रवेश करता है। पुरुष इससे असङ्ग और निर्लेप है तथा इसका द्रष्टामात्र है किन्तु अविद्यावश वह इसे अपना ही जन्म-मरण मान लेता है और इस चित्त के साथ तद्रूपता की भ्रांति के कारण इसकी वृत्तियों के साथ सुखी-दुखी होता रहता है। योग का एकमात्र उद्देश्य यही है कि चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध हो जाय जिससे आत्मा अपने स्वरूप में स्थित हो जाय तथा चित्त अपने मूलकारण प्रधान में विलीन हो जाय।

चित्त अनेक भूमिक होता है। इनमें से कुछ चित्तभूमियां योग के लिए उपादेय नहीं होतीं। चित्तभूमि चित्त की स्वाभाविक अवस्था को कहते हैं। योगदर्शन के प्रथम सूत्र के भाष्य में भी व्यासदेव जी ने पाँच प्रकार की चित्तभूमियां बतलाई हैं—

'क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तं एकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः'।

चित्तभूमियां पाँच प्रकार की हैं—क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध। इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

१. क्षिप्तभूमिक चित्त—

इस प्रकार के चित्त में रजोगुण प्रधान रहता है तथा सत्त्व और तम गौण रूप में विद्यमान रहते हैं। इस चित्त में अध्यात्म के विषयों का चिंतन करने के लिए आवश्यक शक्ति, स्थैर्य एवं धैर्य का अभाव रहता है। ऐसे चित्तवालों को तात्त्विक सत्ता अति दुर्बोध प्रतीत होती है। अतः ऐसे लोग अशान्त स्वभाव के होते हैं तथा इनका चित्त

शोक, चिन्ता तथा सांसारिक व्यापारों में लीन रहा करता है। इन लोगों की प्रवृत्ति धर्म में कभी अधर्म में तथा कभी ऐश्वर्य में कभी अनैश्वर्य में रहा करती है। किन्तु ऐसे चित्त वाले भी कभी-कभी प्रबल हिंसा आदि के वशीभूत होकर समाधि को प्राप्त कर लेते हैं जिस प्रकार जयद्रथ का चित्त पाण्डवों से हारने के कारण अत्यन्त दुःखवश भगवान शिव में समाहित होगया था। इस प्रकार का चित्त योग के लिए अनुपयोगी है, क्योंकि रागद्वेष से अभिभूत होने के कारण वह स्थाई स्थैर्य नहीं रख सकता।

२. मूढ़ भूमिक चित्त—

इस चित्त में तमोगुण प्रधान रहता है तथा सत्त्व और रज गौण रहते हैं। यह चित्त सर्वथा इन्द्रिय-विषयों में मुग्ध रहा करता है और इसप्रकार वह आध्यात्मिक चिन्तन के लिए अयोग्य हो जाता है। चित्त को मोहने वाले विषयों में अनुरक्त होने के कारण वह उनमें सरलता पूर्वक समाहित हो जाता है। मैंने अपने गुरुजी के द्वारा एक सच्ची घटना सुनी है जो इस चित्त वालों का एक स्पष्ट उदाहरण है। वह घटना इस प्रकार है-एक व्यक्ति एक स्त्री में आसक्त था और येन-केन प्रकारेण उसे प्राप्त करने को आतुर था। उसने सोचा कि मुझे किसी महात्मा का आशीर्वाद प्राप्त हो जाय तो वह स्त्री मुझे मिल जायगी। ऐसा सोचकर वह मेरे दादा गुरु महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज के पास आया और उसने अपनी इच्छा को साफ-साफ बता दिया। उसकी स्पष्टवादिता से प्रसन्न होकर श्री महाप्रभुजी ने उसे उसी स्त्री का स्मरण करते हुए ध्यान में बैठने की आज्ञा दी। वह तत्काल ध्यान में बैठ गया और उसका मन कई घण्टों तक समाहित रहा। इसी प्रकार ध्यान करते-करते उसका चित्त उस स्त्री से हटकर भगवान श्रीकृष्ण के रूप में समाहित होने लगा। किन्तु इस उदाहरण में भी महाप्रभुजी की कृपा एवं उनकी शक्तिपात का ही एकमात्र परिणाम था कि उसके चित्त में उसी स्त्री के बदले श्रीकृष्ण के आकर्षण का उदय हुआ। इस चित्त वाले लोगों को भी यदि किसी शक्तिमान् गुरुदेव की कृपा मिल जाये तो वे लोग भी समाधि को प्राप्त कर सकते हैं। किन्तु ऐसे लोग भी अपने प्रयत्न से योगमार्ग में कुछ भी नहीं कर सकते। क्योंकि उनके चित्त की बनावट ही कुछ इस प्रकार की होती है कि उनमें श्रद्धा का सर्वथा अभाव रहता है और "श्रद्धावान् लभते ज्ञानम्" के सिद्धान्तानुसार वे ज्ञान प्राप्ति के सर्वथा अयोग्य होते हैं। उन्हें तो ईश्वर, आत्मा, परमात्मा आदि बातें कोरी बकवास प्रतीत होती हैं।

३. विक्षिप्त भूमिका चित्त–

जो चित्त में विक्षिप्त होता है उसे विक्षिप्त कहते हैं। इस चित्त में सतोगुण प्रधान रहता है इस कारण इसमें धर्म तथा ज्ञान के प्रति रुचि रहती है तथा साथ ही साथ इसमें क्षमा, दया तथा परोपकार की भावना भी रहती है। परन्तु रजोगुण इस चित्त को विक्षिप्त करता रहता है अतः यह चित्त कभी सतोगुण के प्रभाव से स्थिर हो जाता है और कभी रजोगुण के प्रभाव से चञ्चल हो जाता है। इस चित्त में क्षणिक स्थिरता के कारण आध्यात्मिक तत्त्वों के अवधारण की क्षमता रहती है। इस चित्त वाले प्रायः जप, तप, कीर्तन इत्यादि में संलग्न रहते हैं और अपनी वृत्तियों को दबाने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। विक्षिप्त चित्त में भी समाधि हो सकती है परन्तु वह सर्वदा स्थायी नहीं होती क्योंकि इसकी प्रवृत्ति कभी स्थिर और कभी अस्थिर होती है। यही कारण है कि इस चित्त भूमि को भी योग के लिए अयोग्य माना गया है। परन्तु अधिकांश साधक इसी चित्तभूमि के होते हैं। अतः यह प्रश्न उठता कि क्या उन साधकों का प्रयत्न करना उनकी मूर्खता है? इसका उत्तर है नहीं। क्योंकि इन्हीं साधकों के लिए योगदर्शन में एक उपाय बतलाया गया है 'तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।' अर्थात् विघ्नों को दूर करने के लिए एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए।

जो विक्षेपों से ग्रस्त रहता है उसे विक्षिप्त चित्त कहते हैं। विक्षेप नौ प्रकार के होते हैं:—(१) व्याधि—शारीरिक एवं मानसिक रोगों को व्याधि कहते हैं।

(२) स्त्यान—इच्छा होने पर भी योग साधना में अकर्मण्यता का होना चित्त का दूसरा विक्षेप स्त्यान कहलाता है।

(३) संशय—योग साधन करते भी अपनी स्वयं की क्षमता पर पूर्ण विश्वास का न होना तथा योग की चरम सिद्धि की प्राप्ति में सन्देह होना संशय कहलाता है।

(४) प्रमाद—समाधि के साधन-समूह की भावना न करके उनसे विमुख होकर विषयों में लिप्त रहना प्रमाद कहलाता है।

(५) आलस्य—शरीर तथा चित्त के भारीपन के कारण साधन में प्रवृत्त न होना आलस्य है।

(६) अविरति—वैराग्य का अभाव ही अविरति है इसका मुख्य कारण विषयों में तृष्णा का होना है।

(७) भ्रान्ति दर्शन—ज्ञान तथा ज्ञानोपाय को यथार्थतः न जानकर निम्नपद को उच्चपद तथा उच्चपद को निम्नपद मानना भ्रान्तिदर्शन है।

(८) अलब्ध भूमिकत्व—मधुमती आदि योग भूमियों को न प्राप्त करना अलब्ध भूमिकत्व कहलाती है।

(६) अनवस्थितत्व—योग भूमि को प्राप्त कर उसमें स्थित न पाना। अनवस्थितता नामक नौवां विक्षेप है।

उपर्युक्त विक्षेपों के साथ पांच उपविक्षेप भी होते हैं —१-दुःख, २-दौर्मनस्य, ३-अङ्गमेजयत्व, ४-श्वास तथा ५-प्रश्वास। इनको विक्षेपों तथा उप-विक्षेपों को दूर करने के लिए योगशास्त्र में एक तत्त्वाभ्यास के लिए उपदेश दिया गया है। एक तत्त्वाभ्यास का अर्थ है किसी एक इष्टतत्त्व में चित्त को बार-बार लगाने का प्रयत्न करना। इस एक तत्त्वाभ्यास के फलस्वरूप सारे विक्षेपों का नाश होकर विक्षिप्त चित्त भी एकाग्र भूमिक बन जाता है और योग में प्रवेश हो जाता है।

४. एकाग्र भूमि चित्त—

जिस चित्त का अग्र अथवा अवलम्बन एक होता है उसे एकाग्रचित्त कहते हैं। शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः। अर्थात् एक वृत्ति के शान्त होने पर यदि उसके तत्काल पश्चात् ठीक उसी के अनुरूप वृत्ति उदित हो और इस प्रकार समान प्रवाह चलता रहे तो ऐसे चित्त को एकाग्र चित्त कहते हैं। जब चित्त अधिकांश समय तक एकाग्र बना रहता है और एकाग्रता ही उसका स्वभाव बन जाता है, तब ऐसे चित्त को एकाग्र भूमिक कहते हैं। एकाग्र भूमिक चित्त सम्प्रज्ञात योग का अधिकारी होता है। सम्प्रज्ञात योग कैवल्य का साधक है अर्थात् सम्प्रज्ञात् समाधि निरोध समाधि की ओर उन्मुख रहती है। सम्प्रज्ञातवान् को किसी भी प्रकार के पाप अभिभूत नहीं कर सकते। 'यो हि न प्राप्ताभावस्तत्त्वरति न ह्या न सोऽभिभवति।' अर्थात् अज्ञानवश अथवा रूप में जो भी पाप मन में आते हैं वे ऐसे ज्ञानी को अभिभूत नहीं करते। एकाग्र भूमिक चित्त का क्षेत्र वितर्कानुगत समाधि से लेकर अस्मितानुगत समाधि तक है।

५. निरुद्धभूमिक चित्त—

निरोध समाधि के अभ्यास द्वारा जब चित्तवृत्तियों का निरोध स्थाई रूप से सम्पन्न हो जाता है तो चित्त की यह अवस्था निरुद्ध भूमिक कहलाती है। निरुद्ध भूमिक चित्त जब विलीन हो जाता है तब कैवल्य होता है। सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा सभी ज्ञेय वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर वैराग्य के द्वारा जब ज्ञानवृत्ति को क्षीण कर दिया जाता है तब निरोध समाधि होती है।

उपर्युक्त चित्त की पांच भूमियों में से प्रथम तीन को योग के लिए उपादेय नहीं माना गया है क्योंकि वे कैवल्य की साधिका नहीं होती। केवल एकाग्र तथा निरोध भूमियों को ही योग के लिए उपादेय माना गया है क्योंकि वे कैवल्य प्रदान करने के योग्य होती हैं।

—०—

सत्यपथ-गुरु-सत्संग-अनुभव

श्री श्रीकान्त कुमार पाण्डेय

सत्य पथ के अन्वेषी साधक यद्यपि आज कम हैं; परन्तु उन्हें एकदम से नकारा नहीं जा सकता है; क्योंकि जो वस्तु पूर्वकाल में थी, वह समाप्त हो जाय, ऐसा सम्भव नहीं है। उनको उचित मार्गदर्शन की आवश्यकता है। यह कार्य गुरु ही कर सकते हैं। गुरुदेव ही उसकी सुप्त चेतना को आन्तरिक शक्ति देकर जाग्रत कर उसे चैतन्य बना सकते हैं। कबीर का एक दोहा है—

गुरु कुम्हार शिष कुम्भ है,
गढ़-गढ़ काढ़े खोट।
अन्तर हाथ सम्हार दै
बाहर बाहै चोट॥

अर्थात् गुरु कुम्हार है और शिष्य उसके लिए घड़ा है। गुरु बार-बार अपने स्वानुभूति तथा उपदेश से शिष्य के खोटेपन अर्थात् उसकी बुराई को दूर करता है। जिस प्रकार कुम्हार अन्दर से हाथ का सहारा लगाकर बाहर हल्के-हल्के चोट करता है, जिससे घड़ा कहीं मोटा या पतला न हो जाय उसी प्रकार गुरु शिष्य को आन्तरिक शक्ति से सहारा देता है और उसकी बाह्य असत् प्रवृत्तियों पर कड़ी चोट करके उसको सही स्वरूप प्रदान करता है।

मनुष्य के जीवन में गुरु की आवश्यकता बाल्यावस्था से होती है। जन्मजात है उसका तन-बदन धीरे-धीरे बड़ा होता है, तभी से उसको शिक्षा मिलनी शुरू हो जाती है। करणीय (करने योग्य) कार्य के करने दिया जाता है। अकरणीय कार्य पर रोक लगाकर उसको सत्कार्य करने की प्रेरणा दी जाती है। जो सर्वप्रथम गुरु माता-पिता हैं। पुनः वह विद्याध्ययन करने पाठशाला जाता है। वहां आचार्य के सम्पर्क में फिर एक बार ज्ञानवर्द्धन के लिए शिक्षा की आवश्यकता पड़ती है। उस समय पाठशाला के आचार्य (गुरु) उसे उपयुक्त विषय के योग्य बनाकर उसे सन्मार्ग में प्रवृत्त करा देते हैं वह ज्ञानवान् हो जाता है। यह हुई लौकिक गुरु की आवश्यकता।

जीव चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करते हुए किसी प्रकार पुण्यों का संचयन करते हुए, मनुष्य जन्म को प्राप्त करता है। उसके पूर्व वह विविध यातनाएं सहन करता है वह दुःख पाता रहता है, जब तक कि उसपर गुरु कृपा नहीं होती। जिस दिन उस परम कृपालु की दया हुई, उस जीव का उद्धार हो जाता है। वह मानव जन्म पाकर

प्रकट होता है। इस मानव जीवन की सार्थकता इसकी बहिर्मुखी वृत्ति को आत्ममुखी या ईश्वरमुखी बनाने में है, जिसके लिए आवश्यकता है गुरु वत्सलता की।

सद्गुरु–

सद्गुरु की महत्ता से हमारे वेद पुराण भरे पड़े हैं। सभी संत महात्माओं ने गुरु की कृपा की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और यहां कहा है कि–

गुरु र्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः
गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुरेव परं ब्रह्म
तस्मै श्री गुरवे नमः॥
अखण्ड मण्डलाकारं
व्याप्तं येन चराचरम्।
तत्पदम् दर्शितम् येन
तस्मै श्री गुरवे नमः॥
सर्व श्रुति शिरोरत्न
विराजित पदाम्बुजम्।
वेदान्ताम्बुज सूर्यो यो
तस्मै श्री गुरवे नमः॥

अर्थात् गुरु ब्रह्मा है, गुरु विष्णु है, गुरु महेश्वर है गुरु ही वह अनन्त परम ब्रह्म है, ऐसे गुरु देव को नमस्कार है।

अर्थात् जो इस चर और अचर प्राणियों में अखण्ड मण्डलाकार रूप से व्याप्त है तथा जिसने उस परम पद को दर्शाया है, ऐसे श्री गुरुदेव को नमस्कार है। जो समस्त श्रुतियों (वेद, पुराण) के शिरोरत्न होकर शोभायमान हैं ऐसे श्री चरण-कमल वाले श्री गुरुदेव वेदान्त कमल के सूर्य रूप हैं, तथा उन श्री सद्गुरुदेव को नमस्कार है।

ईश्वर से बिछुड़ना उतना कष्टप्रद नहीं होता है जितना कि गुरु से बिछुड़ना कष्टप्रद होता है। ईश्वर से बिछुड़ने पर गुरु की शरण में जा पहुंचने पर रक्षा हो जाती है, किन्तु गुरु के बिछुड़ने पर रक्षा होना मुश्किल ही हो जाता है कबीरदास ने कहा है–

कबिरा हरि के रूठते
गुरु के शरणे जाय।
पर गुरुवर के रूठते,
हरि नहीं होत सहाय॥

गुरुदेव के समान कृपालु भी और कोई नहीं है। गुरुदेव प्रसन्न होकर तीनों लोक की सम्पदा अपने योग्य शिष्य को दे देता है। गुरुदेव की यह महानता है कि वह स्वयं अपने योग्य शिष्य में प्रविष्ट होकर उसका कल्याण करता है। उस समय देह की दृष्टि से ही मात्र गुरु और शिष्य में अन्तर होता है किन्तु आत्म तत्त्व से वे एक ही होते हैं।

गुरुदेव अपनी अहेतुकी कृपा यथावसर प्रकट करते रहते हैं। उस कृपा की एक ही किरण शिष्य के लिए परम कल्याणकारी हो जाती है, वह अपने जीवन में प्रकाश का अनुभव करने

लगता है। गुरुकृपा से ही मनुष्य धीरे-धीरे साधना क्षेत्र में प्रगति करता जाता है। गुरु की मूर्ति ऐसे काल में चन्द्रमा के समान हो जाती है और शिष्य के नेत्र चकोर की तरह। जिस तरह चकोर हमेशा चन्द्रमा को अपलक देखता रहता है वही स्थिति शिष्य की हो जाती है। वह धीरे-धीरे आत्मानुभूति में प्रविष्ट करता हुआ अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होता है। ऐसे समय में शिष्य के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह एक पल भी विचलित न हो वरन् अपना ध्यान गुरुदेव के चरणों में लगाये रहे।

वास्तव में सद्गुरु तत्त्व वह है जो शिष्य को ब्रह्म अर्थात् ब्रह्म की साक्षात्कारी करा दे। मनुष्य के मनुष्यत्व का यथार्थ ज्ञान कराकर उसे उस परमतत्त्व में विलय करा दे। यद्यपि आज बहुत से लोग गुरु बनने के सोची हैं लेकिन वास्तव में जो शिष्य के ताप के कष्टों को दूर करके उसे परम ब्रह्म को दर्शाये ऐसे सद्गुरु कम ही हैं। गुरुगीता में स्पष्ट कहा है—

गुरवो बहवः सन्ति,
शिष्यवित्ता पहारकाः।
तमेकं दुर्लभम् मन्ये
शिष्यसंताप हारकम्।।

कबीरदास ने भी कहा है—

कनफूंका गुरु जगत् का
राम मिलावत और।।

अर्थात् इस भौतिक जगत् में बहुत सारे गुरु हैं जो कानफूंक का कार्य करते हैं। उनके पास अध्यात्म की चीज तो वास्तव में रहती नहीं। वह मात्र एक मंत्र बतलाया करते हैं। कबीर दास जी ऐसे गुरु को त्याग देना ही उचित समझते हैं। उनके सद्गुरु तो वह हैं जो उस परम तत्त्व 'राम' से मिलाकर जीव का कल्याण करे। गुरु गीतामें भी सद्-गुरु तत्त्व का रूप बताकर कहा गया है—

अज्ञान तिमिरान्धस्य
ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुः उन्मीलितं येन
तस्मै श्री गुरवे नमः।।

जिसने अज्ञान रूपी तिमिर को ज्ञान रूपी अञ्जन की सलाई से चक्षु को खोलकर उस दिव्य चिन्मय प्रकाश का दर्शन करा दिया है, ऐसे गुरु को बारम्बार नमस्कार है।

कबीर दास ने मानव जाति को संबोधित करते हुए कहते हैं—

मानुष जनमहिं पाइके
चूके अबकी बार।
रहे पड़े भवकूप में
सहे विपतिओर लाव।।

अर्थात् एक तो उस परम प्रभु की कृपा से मनुष्य जन्म मिला जो सबसे उत्तम योनि है, जिसमें विभिन्न साधनाएं सद्गुरु की कृपा से अनायास होती है। यदि इसमें प्रमाद,

मानस अहंकार आ गया तो वह चौरासी लाख योनि रूपी भवबन्ध में पड़ता ही रहेगा, जहाँ उसे अनेक विपत्तियाँ एवं यन्त्रणाओं की यातनायें सहनी पड़ती हैं। इसलिए सद्गुरु की आवश्यकता पड़ती है। मानव-जीवन का वास्तविक आनन्द तब है जब व्यक्ति अपने अस्तित्व को सद्गुरु की कृपा से जान सके। यदि सद्गुरु की प्राप्ति नहीं हुई तो उसकी दशा को बताते हुए कबीरदास ने कहा है—

जाको सद्गुरु ना मिला
चहुँदिशि डोला धाय।
आँखिन सूझे बावरा
घर जरे घूर बुताय॥

जिसको उस परम-प्रभु की प्राप्ति नहीं हुई, वह व्यर्थ इधर-उधर भ्रमण करता है। जिस प्रकार बिना आँख वाले का ही घर जले और उसे घूर (कूड़ा-करकट वाला स्थान) जलता प्रतीत होता है।

इसलिए हमें उस परम प्रभु के द्वार तक जाने के लिए गुरु की कृपा और साधु की संगत की आवश्यकता है। इसके लिए व्यक्ति को कुछ करने की आवश्यकता होगी। तब ही वास्तविक आनन्द की प्राप्ति हो सकती है। आध्यात्मिक एवं भौतिक सुख का पूर्ण आधार गुरु अर्थात् प्रकाश सद्गुरु अर्थात् सच्चे प्रकाश की उपादेयता परमावश्यक है। इसके लिए सद्गुरु की शरण ग्रहण कर जीवन का आनन्द प्राप्त करें, एवं जीवन के वास्तविक रूप को जानने का प्रयास करें।

सत्सङ्ग—

सत्सङ्ग अर्थात् सज्जनों का सङ्ग मिलना और उस परिवेश में रहकर उसका वास्तविक आनन्द प्राप्त करना ही सच्चा सत्सङ्ग है। गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है—

सतसङ्गति मुद मङ्गल मूला।
सोई फल सिधि सब साधन फूला॥

तुलसीदास ने सत्सङ्ग का प्रभाव इतना बड़ा बताया है कि इससे दुष्ट अर्थात् असद्-वृत्तियों वाले पुरुष में अलौकिक प्रभाव होता है। इन सन्तों में निश्चित दैवीगुण का आलोक होता है। एक बार उनकी माधुरी दृष्टि पड़ गयी कि अपना काम हो गया। उन्होंने तो सूत्रपात कर दिया जो निश्चय ही एक दिन अंकुरित होकर विशाल वृक्ष बनेगा ही। तुलसीदास ने और भी कहा है—

सठ सुधरहिं सतसङ्गति पाई।
पारस परस कुधातु सुहाई॥

अनुभव—

व्यक्ति को सद्गुरु मिला तो निश्चय ही सत्सङ्ग मिल ही जाता है। सद्गुरु व्यक्ति के हृदय में निश्चित जिज्ञासा का स्फुरण करा देते हैं। जिससे स्वयं को जानने की कामना हो जाती है। प्रभुकृपा की एक ही किरण ने जब जानने की जिज्ञासा कर दी

परकाय-प्रवेशकारी महामुनि विपुल

डा० श्रीमती राजकुमारी मिश्रा

योगसाधना द्वारा साधकों को अनेक प्रकार के आश्चर्यजनक कार्य करने की शक्ति आ जाती है। वे पानी पर चलने, आकाश में उड़ने, अनेकानेक रूप धारण करने व कल्पनातीत कार्य करने में समर्थ होते हैं। वस्तुतः योग साधना से ही वास्तविक बल मिलता है। कहा गया है, "नास्ति योगसम बलम्"। शारीरिक दृढ़ता, मन की एकाग्रता, व आत्मिक शान्ति के अतिरिक्त योगी को अष्टविध सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, जिसकी वजह से योगी शरीर को आवश्यकतानुसार अणु जैसा सूक्ष्म अथवा पर्वत जैसा महान् बना सकता है। वह आकाश में उड़ सकता है। बैठे-बैठे उंगली से चाँद को भी छू सकता है। वह सर्व समर्थ हो जाता है, तथा जो चाहे सो कर सकता है। वह यौगिक भाषा में, "कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं च समर्थः" हो जाता है। वह पराये शरीर में प्रवेश कर सकता है व अनेकानेक शरीर निर्माणकर सकता है।

प्रस्तुत प्रसङ्ग में हम परकाय प्रवेश के विषय में ही विचार करेंगे। परकाय प्रवेश जीवित तथा मृत दोनों प्रकार के शरीरों में

(पिछले पृष्ठ का शेष)

तो व्यक्ति उसके लिए आवश्यक उपादान में खोजने लग जाता है। वह धीरे-धीरे ध्यानयोग का साधक बनने लगता है क्योंकि उसको अब अनुभव की जरूरत है जिससे हृदय में गोप जिज्ञासा प्रमाणित हो जाय। ध्यान योग का परिणाम ही होता है उसको प्रमाणित करना तथा एक नयी जिज्ञासा को जन्म देना। यह क्रिया निरन्तर जारी रहने से साधक धीरे-धीरे इन्हीं के सहारे गहरी अनुभूतियों में प्रविष्ट करता चला जाता है। अन्त में वह अपने परम लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। वह अभी अपने अन्दर छिपी उस महत्सत्ता का पूर्ण बोध कर लेता है। अपने स्वरूप का यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर वह सांसारिक प्रपञ्चों से अलग होने की चेष्टा करने लगता है। गुरुदेव भी उसकी इस प्रज्ज्वलित अग्नि में वैराग्य ज्ञानरूपी हविष्य छोड़ते रहते हैं। वह निरन्तर आगे बढ़ता रहता है। इस प्रकार मनुष्य के जीवन में ये तीनों नितान्त आवश्यक हैं जिससे मनुष्य इस भवअटवी को पार कर उस परम सत्ता में लीन हो जाये, जहाँ से वह चला था। यही असली पुरुषार्थ है। सद्गुरुकृपा और सत्सङ्ग का यही अन्तिम फल होता है।

किया जा सकता है। योगी पूर्णत्व से पराई काया में प्रवेश कर सकता है। अथवा अपने शरीर में रहते हुए ही दूसरों के शरीर में अपने चित्त के अंश का आवेश कर देते हैं। जिसमें योगी ने अपने चित्त का आवेश कराया है, ऐसा मानव शरीर कल्पनातीत व आश्चर्यजनक कार्य करने तथा वरदान को देने में समर्थ होते हैं। वस्तुतः उस शरीर का कार्य उसका स्वामी आत्मा नहीं होता बल्कि उस शरीर पर योगी का नियन्त्रण होता है, तथा वह शरीर भी इच्छानुसार ही कार्य करता है।

परकाया प्रवेश की विधि के विषय में भगवान् पतञ्जलि देव ने योगदर्शन के तीसरे पाद के ३८वें सूत्र में कहा है—

"बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः।"

इस सूत्र की व्यासभाष्य में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

"लोलीभूतस्य मनसोऽप्रतिष्ठस्य शरीरे कर्माशयवशाद्बन्धः प्रतिष्ठेत्यर्थः। तस्य कर्मणो बन्धकारणस्य शैथिल्यं समाधिबलाद्भवति। प्रचारसंवेदनं च चित्तस्य समाधिजमेव। कर्मबन्धक्षयात्स्वचित्तस्य प्रचारसंवेदनाच्च योगी स्वशरीरान्निष्कृष्य शरीरान्तरेषु निक्षिपति। निक्षिप्तं चित्तं चेन्द्रियाण्यनुपतन्ति। यथा मधुकरराजानं मक्षिका उत्पतन्तमनूत्पतन्ति निविशमानमनुनिविशन्ते तथेन्द्रियाणि परशरीरावेशे चित्तमनुविधीयन्त इति।"

अर्थात् मनुष्य का पाप-पुण्यरूप कर्म चित्त के बन्धन का कारण है। जब योगी अपनी समाधि के बल से बन्धन के कारण को शिथिल कर डालता है और नाड़ियों में समाधि द्वारा चित्त के आने-जाने का मार्ग को देख लेता है, उस समय योगी अपने चित्त को शरीर से निकालकर, दूसरे की चित्तवह नाड़ी के रास्ते, दूसरे शरीर में प्रवेश करा देता है। चित्त के साथ-साथ सभी इन्द्रियाँ भी उसमें शरीर में उसी प्रकार प्रवेश कर जाती हैं जिस प्रकार रानी मधुमक्खी के उड़ने पर अन्य मधुमक्खियाँ उड़ जाती हैं व जहाँ रानी मक्खी बैठती है, वहीं पर वे सब भी जाती हैं। इस प्रकार पराये शरीर में भी योगी अपने चित्त व इन्द्रियों से कार्य कर सकता है।

वैसे तो अनेक नाड़ियाँ चित्तवह हो सकती हैं, परन्तु जिस क्षण प्रवेश करना हो उस क्षण पराया चित्त जिस नाड़ी में प्रचार कर रहा हो उसी का पता लगाकर उसके द्वारा प्रवेश किया जाता है।

महाभारत में सुलभा भिक्षुणी नामक योग साधक की कथा है, जिसने अपने योग-

ने परलोक प्रवेश विधि द्वारा अपने गुरु ऋषि देवशर्मा की पत्नी की रक्षा की। एक बार ऋषि ने यज्ञ करने का विचार किया। परन्तु उनकी अनुपम सुन्दरी पत्नी रुचि की रक्षा कौन करेगा, यह चिन्ता उन्हें सताने लगी। देवराज इन्द्र रुचि पर विशेष रूप से आसक्त थे। इन्द्र अत्यन्त पराक्रमी व मायावी हैं, यह भी ऋषि से छिपा न था। अतः रुचि की सुरक्षा का प्रबन्ध अत्यन्त आवश्यक था। अन्ततः समस्या का समाधान निकालकर ऋषि ने अपने शिष्य विपुल को अपनी पत्नी रुचि की रक्षा का भार सौंप दिया और उसे इन्द्र के विषय में विशेषरूप से सचेत किया। वे बोले, इन्द्र की ओर से विशेष रूप से सावधान रहना क्योंकि वह वह निरन्तर रुचि को प्राप्त करने की चेष्टा करता रहता है तथा अनेक प्रकार के रूप धारण करता है। कभी देवताओं के राजा की सी शान से देवरूप में आता है तो कभी अपने ही स्थान चाण्डाल का रूप रखता है, कभी ऋषि का रूप धारण कर लेता है। वह कभी गोरा, कभी सांवला, मोटा ताजा तो कभी दुर्बल, कभी रूपवान् तो कभी कुरूप, कभी पशु तो कभी पक्षी, कभी देवता, तो कभी दैत्य, राजा आदि का शरीर धारण करता है वह मच्छर तथा वायु तक का रूप धारण कर सकता है। उन्हें कोई भी पकड़ नहीं सकता। इन्द्र केवल ज्ञान दृष्टि से दिखाई देते हैं। इसलिए हे विपुल! तुम प्रयत्नपूर्वक मेरी पत्नी रुचि की रक्षा करना जिससे इन्द्र उसे दूषित न कर सके। यह कहकर ऋषि चले गये।

गुरु की बातें सुनकर विपुल बड़ी चिन्ता में पड़ गये। वह सोचने लगा कि मैं इन्द्र से इस सुन्दरी तपस्विनी को कैसे बचाऊँ, क्योंकि इन्द्र मायाजालविशारद होने के साथ-साथ दुर्धर्ष पराक्रमी भी हैं। कुटी या आश्रम के दरवाजे बन्द करके भी इन्द्र का प्रवेश नहीं रोका जा सकता, क्योंकि वह वायु का रूप धारण कर भी आ सकता है। अन्त में विपुल को एक उपाय सूझ गया। उसने रुचि के शरीर में प्रवेश करके उसकी रक्षा करने का निश्चय किया। पुरुषार्थ द्वारा रक्षा असम्भव जान पड़ती थी, अतः विपुल ने योगबल का आश्रय लिया। जिस तरह कमल के पत्ते पर जल की बूँदें निर्लिप्त भाव से रहती हैं, उसी प्रकार उसने अनासक्त भाव से गुरुपत्नी के शरीर में रहने का निश्चय किया।

इसके बाद मनस्वी विपुल गुरुपत्नी के पास बैठ गये व अनेक प्रकार की कथा वार्ता सुनाकर उनका चित्त आकर्षित कर लिया। फिर दोनों नेत्रों को उन्होंने उनके नेत्रों की ओर लगाया और अपने नेत्रों की किरणों को उनके नेत्रों की किरणों के साथ जोड़ दिया। फिर उसी मार्ग से आकाश में प्रविष्ट होने वाली वायु की भाँति रुचि के शरीर में प्रवेश किया। वे तपस्वी के लक्षणों से युक्त हो मुख के द्वार, मुख में प्रविष्ट हो, कोई चेष्टा न करते हुए स्थिर भाव से रहने लगे। उस समय

अन्तर्हित हुए विपुल मुनि छाया के समान प्रतीत होते थे। विपुल गुरुपत्नी के शरीर को स्तम्भित करके उसकी रक्षा में संलग्न हो वहीं निवास करने लगे। परन्तु रुचि को अपने शरीर में उनके आने का पता न चला। जब तक गुरु यज्ञ समाप्त करके न लौटे, विपुल इसी प्रकार गुरुपत्नी की रक्षा करते रहे।

एक बार गुरुपत्नी को प्राप्त करने के लिए अत्यन्त दिव्य व सुन्दर शरीर धारण करके इन्द्र आये। उन्होंने देखा कि विपुल का शरीर चित्रलिखित की भाँति निश्चेष्ट पड़ा है और उनके नेत्र स्थिर हैं। दूसरी ओर अनुपम सुन्दरी रुचि दिखाई दी।

इन्द्र को देखकर वह उत्साह से स्वागतार्थ उठने की इच्छा करने लगी। उसका सुन्दर रूप देखकर वह चकित हुई तथा पूछना चाहती थी कि आप कौन हैं। जब रुचि ने उठने का विचार किया त्यों ही विपुल ने उसके शरीर को स्तब्ध कर दिया। उनके काबू में आ जाने के कारण वह हिल भी न सकी। तब देवराज इन्द्र ने उसे मधुर वाणी में समझाते हुए कहा—हे पवित्र मुस्कान वाली देवी! मैं देवराज इन्द्र हूँ तथा तुम्हारे लिए यहाँ तक आया हूँ। तुम्हारा चिंतन करने से हृदय में जो काम उत्पन्न हुआ है, वह मुझे बड़ा कष्ट दे रहा है इसी से मैं तुम्हारे निकट आया हूँ। सुन्दरी! अब देर न करो। समय बीता जा रहा है।

यह प्रणय निवेदन गुरुपत्नी के शरीर में बैठे हुए विपुल ने सुना व इन्द्र को भी देख लिया। रुचि विपुल द्वारा स्तब्ध किये जाने के कारण न तो उठ सकी और न वह इन्द्र को कोई उत्तर दे सकी। गुरुपत्नी का आकार व चेष्टा देखकर विपुल उसका मनोभाव ताड़ गये थे अतः उन्होंने रुचि को योग द्वारा बलपूर्वक काबू में रखा। योग बल से मोहित हुई रुचि को कामविकार शून्य देखकर इन्द्र लज्जित हो गये व फिर उससे बोले—सुन्दरी! आओ आओ। इन्द्र का आमन्त्रण सुनकर रुचि फिर इन्द्र को कुछ उत्तर देने की इच्छा करने लगी। यह देख विपुल ने गुरुपत्नी के द्वारा कहे जाने वाले शब्द रोक कर उन्हें बदल दिया। उसके मुँह से निकला, अजी यहाँ आप क्यों आये हैं? पराधीन हुई रुचि यह वाक्य कह कर लज्जित हो गई।

इन्द्र ने उसके मनोविकार एवं भाव परिवर्तन को लक्ष्य किया व फिर दिव्य दृष्टि से उसकी ओर देखा। फिर तो उसके शरीर के भीतर विपुल मुनि पर उनकी दृष्टि पड़ी। दर्पण में दिखने वाले प्रतिबिम्ब के समान वे गुरुपत्नी के शरीर में परिलक्षित हो रहे थे। घोर तपस्वी विपुल को देखते ही इन्द्र शाप के भय से थर-थर काँपने लगा।

इसी समय विपुल गुरुपत्नी को छोड़कर अपने शरीर में आ गये व इन्द्र को इस प्रकार डाटने लगे।

हे पापी इन्द्र ! तेरी बुद्धि बड़ी खोटी है। तू सदा इन्द्रियों का गुलाम बना रहता है, पापी मूढ़। यह स्त्री मेरे द्वारा सुरक्षित है। तू जैसा आया है वैसे ही लौट जा। मैं अपने तेज से तुझे जलाकर भस्म कर सकता हूँ। केवल दया वश ही तुझे चेतावनी देकर छोड़ रहा हूँ। आज के बाद फिर कभी ऐसा काम न करना वरना इसका दुष्परिणाम तुझे भोगना पड़ेगा।

अनेक प्रकार की बातों से अपमानित इन्द्र लज्जित होकर तुरन्त अन्तर्धान हो गया। एक मुहूर्त बाद मुनि आश्रम पर आये व विपुल ने सब समाचार सुनाकर उनकी सती भार्या को उनके सुपुर्द किया। गुरु ने सन्तुष्ट होकर उन्हें अनेक आशीर्वाद व वरदान दिये।

इस प्रकार परकाय प्रवेश द्वारा योग बल से विपुल ने गुरु पत्नी की रक्षा की जो अन्य किसी प्रकार न कर पाना असम्भव था।

आजकल के बुद्धिजीवी वर्ग को इस प्रकार की बातें कल्पनालोक व जन्मजातियों के समान कपोल कल्पना ही लगती है, परन्तु इतिहास साक्षी है। आद्य जगद्गुरु शंकराचार्य ने मृत राजा के शरीर में प्रवेश करके काम शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया व अपने प्रतिपक्षी मण्डन-मिश्र की विदुषी पत्नी को हराया।

इसी प्रकार आज के कलिकाल में भी पुण्यवान् आत्माओं को कभी-कभी सिद्धपुरुषों की ऐसी आश्चर्यमयी क्रियायें देखने को मिलती हैं। आज आवश्यकता है इस बात की कि हमारे बुद्धिजीवी इस वैज्ञानिक योग शास्त्र की महत्ता को समझें, व इस पर चलकर मानवजाति का कल्याण करें। भौतिकवादी पाश्चात्य मानव आज हमारी ओर इस दिशा में मार्ग दर्शन हेतु आशा भरी दृष्टि से निहार रहा है।

जनकपुरी, नई दिल्ली

आत्मा और मन

प्रसन्नता और शान्त होने पर समस्त दुःखों का नाश होता है और ऐसे प्रसन्नचित्त मनुष्य की बुद्धि शीघ्र स्थिर होती है।

आत्मा अविनाशी है, अतः शरीर का स्वामी है। आत्मा की तुलना में मन विनाशी और अति क्षुद्र है। मन आत्मा का नौकर है। इसलिए स्वामी को चाहिए कि नौकर को अपने काबू में रखे, सिर चढ़ने न दे। इस बात की सावधानी रखेगा तो नौकर-मन निष्प्राण और निर्बल हो जायगा।

—सूक्ति-सार

यौगिक प्रश्नोत्तरी

आश्रम के विशुद्धतम वातावरण में पुनः मौखिक सत्संग का आरम्भ, जिज्ञासु समुदाय की शङ्का निवारणार्थ, श्री गुरुदेव की पवित्र वचनामृत को सुनकर एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया—

हे पूज्य गुरुदेव ! आपने अपने कथन के व्याख्यान में प्रताप वाले योगियों की बात कही थी। वे लोग तो जन्म-जात हैं जो इस प्रकार का जन्म धारण करते हैं और जन्म धारण करते ही उनकी प्रवृत्ति योग ध्यान की ओर बन जाती है। उनको कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता जन्म-जन्मान्तर के अभ्यास वश वे लोग पूर्व प्रारब्धोपार्जित कर्म संयोग को पाकर बिना ही किसी प्रयास के योगी बन जाते हैं किन्तु जो लोग इस प्रकार के संस्कारी नहीं हैं उनकी क्या स्थिति होगी ?

उत्तरः—हे पुत्र ! उनके लिये भी उपाय है जिसका वर्णन श्री व्यासदेव जी ने अपने भाष्य में स्पष्ट कर दिया है—

उपाय प्रत्ययो योगिनां भवति।

अर्थात् वे अपने प्रयत्न से ठीक उस ही प्रकार की स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं और पतन से परे हो जाया करते हैं। भव प्रत्यय वाले योगी तो कभी-कभी प्रमाद तो कर बैठते हैं। वे प्रायः अपने मन में समझ बैठते हैं कि हमें तो यह वस्तु बिना ही प्रयास के उपलब्ध हो रही है फिर हम विशेष प्रयास करने की आवश्यकता ही क्या है ? इस धारणा को लेकर पूर्व जन्मोपार्जित पुण्य के प्रभाव से प्राप्त की हुई स्थिति को खो बैठते हैं। किन्तु जो लोग पूरे-पूरे प्रयत्न के साथ अपनी समाधि स्थिति को प्राप्त करते हैं वह इस प्रकार का प्रमाद कभी भी नहीं करते। प्रत्युत अपने अभ्यास में निरन्तर लगे रहा करते हैं और कालान्तर में अवश्य ही समाधि स्थिति को प्राप्त कर लेते हैं।

प्रश्नः—हे गुरुदेव ! क्या इस प्रकार के लोगों का मन कभी भी विचलित नहीं होता और क्या वे अपने प्रयत्न में दृढ़ता से लगे ही रहते हैं ?

उत्तरः—हे पुत्र ! उनकी श्रद्धा ऐसी ही होती है जिसके कारण अभ्यास से कभी भी विचलित नहीं होते। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में स्वयं अपने मुखारविन्द से ये शब्द कहे हैं।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य
श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो
यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

अर्थात् जिस व्यक्ति के अन्दर जितना अधिक सतोगुण का विकास हो जाया करता है वैसी ही उसके मन में दृढ़ श्रद्धा पैदा हो जाती है और परमात्मा का रूप श्रद्धामय है जैसी जिसकी श्रद्धा होती है परमात्मा वैसा ही बन जाया करता है ।

प्रश्नः—हे गुरुदेव ! भगवान के इस कथनानुसार तो परमात्मा अनेक रूप हो गया । इसका अर्थ तो यह हुआ कि साधक जिस भावना से उसको चाहेगा परमात्मा वैसा ही होकर उसको मिल जायेगा । इसके अनुसार तो हिन्दू, ईसाई, मुसलमान, यहूदी, पारसी सभी के मत ठीक हैं क्योंकि वे लोग भी किसी न किसी नाम रूप से तो परमात्मा को चाहते ही हैं । क्या उनकी भावनानुसार उनको परमात्मा नहीं मिलेगा ?

उत्तरः—हे पुत्र ! उनकी भावनानुसार उनको उस परमात्मा के दर्शन अवश्य होंगे । गुरुदेव तुम्हारे मतानुसार के अनुसार वे भी किसी न किसी नाम रूप से परमात्मा को चाह ही रहे हैं । वास्तव में तो परमात्मा नाम रूपादि से रहित निर्गुण, निर्विकार एवं निराकार ही है । यही हमारी तुम्हारी भावना की बात उसके अनुसार तो यो यच्छ्रद्धः स एव सः का नियम लागू हो ही जायेगा ।

प्रश्नः—हे गुरुदेव ! इसका तो अर्थ यह हुआ कि साधक स्वतन्त्र है । जैसी उसके मन में कल्पना करेगा वैसा ही चिन्तन कर लेगा ?

उत्तरः—हाँ पुत्र ! इसमें यह भी असत्य नहीं है । जैसा उसके मन में आयेगा वैसा ही चिन्तन कर लेगा । यह तो ठीक ही है प्रस्तुत कर लेगा ही नहीं करता ही है । तुम अपने अन्दर विचार करके देखो कि भगवान श्रीराम, श्रीकृष्ण, भगवान सदाशिवादि के चित्र नाना प्रकार के मिलते हैं । वे सभी चित्र, चित्रकार के अपने मन की कल्पना ही तो है । तुम स्वयं ही इस बात का विचार करो जैसे नाना प्रकार के चित्र बाजारों में मिलते हैं ? क्या भगवान कृष्ण का अपना रूप इस ही प्रकार का था । मन जवाब देगा कि नहीं-नहीं । ये सभी चित्र तो केवल मात्र काल्पनिक चित्र हैं । अभ्यास करते समय साधक उनको उनके जीवन काल में देखकर तो आया नहीं था । अब जैसे चमत्कार पुस्तकों में जैसा वर्णन मिला वैसा ही साधक अपनी कल्पना से उनको मान बैठा यहाँ पर भगवान पतञ्जलि देव ने उपाय प्रत्यय का वर्णन किया है यहाँ पर साधकों की संतुष्टि के लिये निम्नाङ्कित सूत्र का उल्लेख किया है—

श्रद्धावीर्य्य स्मृति समाधि
प्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।

अर्थात् उपाय प्रत्यय का सहारा लेने वाले योगियों के लिये श्रद्धा, वीर्य, स्मृति के द्वारा समाधि की प्राप्ति होती है।

प्रश्नः—हे गुरुदेव ! क्या श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि आदि योगी को, तत्त्व तक पहुँचा देते हैं ?

उत्तरः—हां पुत्र ! बिल्कुल पहुँचा देते हैं तुम भाष्य में व्यासदेव जी के विचार पढ़ो वे क्या कह रहे हैं—

उपाय प्रत्ययो योगिनां भवति, श्रद्धा—चेतसः सम्प्रसाद सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति, तस्य ही श्रद्दधानस्य विवेकार्थिनो वीर्यमुपजायते, समुपजात वीर्यस्य स्मृति रूप तिष्ठते, स्मृत्युपस्थाने च चित्तमनाकुलं समाधीयते, समाहित चित्तस्य प्रज्ञाविवेक उपावर्तते, येन यथावद्वस्तु जानाति तद-भ्यासात् तद्विषयाच्च वैराग्यादसम्प्रज्ञातः समाधिर्भवति।

अर्थात् श्रद्धा चित्त का प्रसाद है और वह श्रद्धा जन्म देने वाली माता की तरह योगी की रक्षा किया करती है। विवेक ज्ञान को प्राप्त होने की इच्छा वाला योगी ज्यों-ज्यों अपने अभ्यास को बढ़ाता है त्यों-त्यों उसकी श्रद्धा दृढ़ता को पाती चली जाती है और जिसके मन के अन्दर श्रद्धानुरूप दृढ़ता बढ़ती चली जाती है उसकी स्मृति का उपस्थान होता चला जाता है और ज्यों-ज्यों स्मृति स्थिति पाता है त्यों-त्यों चित्त निर्विघ्न समाधिस्थ हो जाता है और चित्त के समाधिस्थ होने के बाद अपने आप ही प्रज्ञाविवेक प्राप्त हो जाता है जिससे साधक वस्तु तत्त्व का यथार्थ ज्ञाता बन जाता है।

प्रश्नः—हे गुरुदेव ! स्मृत्युपस्थान किसको कहते हैं क्या स्मृति स्थिति इतनी बड़ी वस्तु है कि जिससे चित्त निर्विघ्न समाधिस्थ हो जावे ?

उत्तरः—हां पुत्र ! स्मृति स्थिति ठीक इस प्रकार की वस्तु है क्या तुम स्मृति का अर्थ नहीं जानते ? भगवान पतञ्जलि देव ने तो यहां पहले वृत्तियों का वर्णन किया है वहां पर स्मृतियों का लक्षण बिल्कुल स्पष्ट शब्दों में लिख दिया है—

अनुभूत विषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।

अर्थात् अनुभव में आये हुये विषय का न चुराया जाना ही स्मृति कहलाती है। योगी जिस वस्तु को एक बार जान लेता है वह उसे भूला नहीं करता और जिस योगी के मन में इस वस्तु का ज्ञान कायम हो जायेगा कि एक बार वस्तु तत्त्व के जान जाने पर वह उसे भूलता ही नहीं, ऐसी स्थिति में वह अनायास ही समाधि को प्राप्त कर लेता और समाधि प्राप्त हो जाने पर ज्यों-ज्यों उसकी स्थिति स्पष्ट होती चली जायेगी त्यों-त्यों प्रज्ञाविवेक

प्रगट होता चला जायेगा और प्रज्ञाविवेक पैदा हो जाने के बाद योगी वस्तु तत्व की यथार्थता का ज्ञाता अनायास ही बन जावेगा।

प्रश्नः—हे गुरुदेव ! प्रज्ञाविवेक किसे कहते हैं जिससे मनुष्य यथार्थता का ज्ञाता बन जाता है ?

उत्तरः—हे पुत्र ! प्रज्ञाविवेक ऋतम्भरा प्रज्ञा का ही एक नाम है।

प्रश्नः—हे गुरुदेव ! ऋतम्भरा प्रज्ञा किसे कहते हैं और यह योगी को कब प्राप्त होती है ?

उत्तरः—हे पुत्र ! ऋतम्भरा प्रज्ञा उसी का नाम है जो बुद्धि सत्य को ही धारण करती है अर्थात् जिसकी बुद्धि में यथार्थता के अतिरिक्त और कोई भाव आता ही नहीं है।

प्रश्नः—हे गुरुदेव ! योगी को यह बुद्धि कब और कैसी स्थिति में प्राप्त होती है ?

उत्तरः—हे पुत्र ! ये बुद्धि योगी को, जब वह अस्मितानुगत समाधि को प्राप्त कर लेता है तभी प्राप्त होती है और फिर वह योगी पतन से परे हो जाया करता है क्योंकि भगवान पतञ्जलि देव स्वयं यह आदेश करते हैं कि—

तज्जः संस्कारो अन्य
संस्कार प्रतिबन्धी।

अर्थात् ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कारों के उदय हो जाने के बाद योगी के मन में और किसी प्रकार के संस्कार का उदय होना ही नहीं है। ऋतम्भरा प्रज्ञा अन्य संस्कारों को रोकने के लिये दीपक का काम करती है।

प्रश्नः—हे गुरुदेव ! यह तो आपने मृत्यु-पश्चात की बात कही जिसमें श्रद्धा पूर्ण वास्तव बनती है मेरे मन में एक शङ्का और पैदा होती है और उसका इस विषय से सम्बन्ध भी है। कृपा करके उसका निराकरण और कर दीजिये और वह यह है कि आजकल के समय में बहुत से इस प्रकार के प्रचारक हो गये हैं जो यह कहते हैं कि मन को चाहे जहां लगा लेना चाहिये और कई एकों का तो इस प्रकार का सिद्धान्त है कि युवा स्त्री पुरुषों को आमने सामने बैठकर एक दूसरे को देखते हुये मन एकाग्र करना चाहिये।

उत्तरः—हे पुत्र ! ये सब लोगों के मानस विकार हैं किन्तु शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार इस प्रकार के चिन्तन मनुष्य को पतन की ओर ले जाने वाले सहायक ही में हो सकते हैं। इस प्रकार के चिन्तन घटपट वासना में बदल सकते हैं और उसका फल अन्ततः पतन के अतिरिक्त और कुछ हो ही नहीं सकता। भगवान श्रीकृष्ण का गीता में आदेश है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः
संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः
कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधात् भवति संमोहः
संमोहात् स्मृति विभ्रमः।

स्मृति भ्रंशात् बुद्धि नाशो
बुद्धि नाशात् प्रणश्यति ।।

अर्थात् ज्यों ही मनुष्य मानसिक चिन्तन करता है त्यों-त्यों उसके मन में वह भावना और कामना बढ़ती चली जाती है और कामना के आवश्यक बढ़ जाने पर यदि उसकी उपलब्धि नहीं होती है तो मन में बड़ा भारी क्रोध पैदा हो जाता है और क्रोध हो जाने पर बड़ा भारी मोह, मति भ्रम और स्मृति का भ्रंश होने लगता है और स्मृति भ्रंश होने पर बुद्धि का नाश हो जाता है और बुद्धि का नाश हो जाने के बाद केवल मात्र प्रणश्यति ही ही लिखी मिलती है इसलिये इस प्रकार के चिन्तन साधक को कामनाओं के गर्त में गिराकर कल्याण की अपेक्षा घोर पतन कर डालते हैं। इसलिये साधक के लिये तो सर्वथा यही उचित है कि—

विहाय कामान् यः सर्वान्
पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः
स शान्ति मधिगच्छति ।।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्ति माप्नोति न कामकामी ।।

अर्थात् जो मनुष्य सब कामनाओं को त्याग करके निर्ममो निरहंकार होकर के घूमता है वह शान्ति को प्राप्त कर लेता है। भगवान इसी बात को स्पष्टीकरण के साथ समझाने हेतु उदाहरण देकर समझाते हैं कि—

जिस प्रकार से सभी नदी नाले समुद्र में मिलकर के अपना नाम और रूप को खो देते हैं ठीक इसी प्रकार से सभी कामनायें मनुष्य के मन में जाकर खत्म हो जाती हैं वह मनुष्य शान्ति को प्राप्त कर लेता है और जो मनुष्य कामनाओं के पीछे दौड़ता है वह कभी भी शान्ति को नहीं पा सकता इसलिये प्रत्येक साधक को चाहिये कि वह "योगश्चित्त वृत्ति निरोधः" के सही अर्थ को समझकर "चित्त-वृत्तिनां निरुद्ध्रोधः" की यथार्थ स्थिति को प्राप्त करें। यही कल्याण का आदि स्रोत है।

—वेदपाठादि स्वाध्याय से वांछित देवता अर्थात् तत्वज्ञानी महात्माओं का संग प्राप्त होता है। इस सूत्र से जो आनुमानिक या कल्पित देवताओं का अर्थ करते हैं वह भ्रामक है क्योंकि महर्षि व्यासदेव ने अपने भाष्य में देवता शब्द का अर्थ देव (दिव्य गुणवान् विद्वान्) ऋषि और सिद्ध किया है। श्रुति और विद्वों के साहचर्य से देवता शब्द वाच्य विद्वान् ही सिद्ध होते हैं।
—व्यासभाष्य से

पूर्व प्रकाशित से आगे—

योगेश्वर चरित्र माला

❀ प्रयाग-कुम्भ ❀

महन्त बालकृष्णदास बैरागी श्री आनन्दकन्द प्रभुश्री की दिव्य कृपाओं को कृतकृत्य हो करके श्री प्रभुजी की चरण सेवा में कुछ समय संलग्न रहने लगे। माघ का महीना था कुछ ही दिनों बाद प्रयाग में कुम्भ मेला होने वाला था। कुम्भ मेले के यात्रियों की भीड़ काफी संख्या में पहिले से ही चल रही थी। श्री प्रभुजी के चरणारविन्दों के अनुरागी सभी भाई-बहनों ने प्रार्थना की कि प्रभुजी कृपा करके हम सबों को भी कुम्भ मेला दिखलाइए। उन सभी की इस दीन विनय को सुनकर श्री प्रभुजी ने प्रयाग कुम्भ में जाने की तैयारी कर दी। श्री प्रभुजी के चरणारविन्दों के साथ में जाने वाले गृहस्थ विरक्त काफी लोग थे उनमें से प्रमुख श्री योगीराज मुक्तदास जी श्री योगिराज गोपालानन्द जी, महात्मा ऋषिदेवी जी एवं बालकृष्ण दास बैरागी आदि महात्मा सभी थे। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी अपने पूरे-पूरे समुदाय को लेकर प्रयाग पहुँच गये। और अपने कैम्प लगवाकरके माघ के महीने में वहीं निवास किया। श्री प्रभुजी के प्रयाग निवास काल में अनेकानेक महात्मा, सेठ, साहूकार व अन्य जिज्ञासु समुदाय बराबर दर्शनार्थ आने लगा। सत्संग का प्रचार खूब धूमधाम से बढ़ने लगा। कुम्भ का मेला था। विश्व इतिहास साधु-महात्मा, संन्यासी एवम् गृहस्थ समुदाय श्री प्रभुजी के अलौकिक तेज को देखकर सभी आश्चर्य चकित थे। इस प्रकार के अलौकिक तेज को धारण करने वाले सर्व समर्थ महात्मा इस मेले में कोई भी दिखलाई नहीं देते थे। प्रभुप्रेम और कृपा इन बातों को कोई भी समझ नहीं सकता। इस अनुपम दया का पात्र कौन और कब बनेगा। मेंहू नाम का एक मल्लाह प्रयाग निकटवर्ती एक गाँव झुग्गी में निवास करता था वह भजनानन्दी था साधु सेवी एवम् परम् विनीत था। उसके मन में प्रतिक्षण ये भावना बनी रहती थी कि मैं किसी महापुरुष की कृपा प्राप्त करके अपने मानको कृतकृत्य बनाऊँ किन्तु इस समय तक वह इस अलभ लाभ को प्राप्त नहीं कर पाया। उसके मन में भावना बनी रहती थी और वह यह कि—

राम राम रटते रहो जब लग घट में प्राण।
कबहूँ तो दीन दयाल के भनक पड़ेगी कान॥

इसी दोहे को आधार बनाकर के मेंहू का दिन-रात भजन में रत रहा करता था।

मेढ़ का जन्म यद्यपि भरवाड़ जाति में हुआ था, किन्तु उसके कर्म बहुत ही उत्कृष्ट थे। और वह निरन्तर शुभ आहार करके धर्म में लगा रहा करता था जो व्यक्ति इस प्रकार स्वाध्यायशील रहते हैं वह अपने मनोवांछित अलभ्य लाभ को अवश्य ही प्राप्त कर लिया करते हैं। हमारा शास्त्रीय सिद्धांत है:—

स्वाध्यायादिष्ट देवता सम्प्रयोगः ॥ देवा, ऋषयः सिद्धाश्च स्वाध्यायशील-स्य दर्शनं गच्छन्ति कार्ये चास्य वर्त-न्त इति ॥

अर्थात् देवता लोग ऋषि मुनि और सिद्ध लोग स्वाध्यायशील व्यक्ति की आँखों के सामने आया करते हैं और उन पर कृपा किया करते हैं ताकि वे लोग अपने मनोवांछित फल को पा जावें। मेढ़ के अनवरत स्वाध्यायशील रहने के फल को उसने भी प्राप्त किया। निरन्तर स्वाध्यायशील रहने से कुछ-कुछ दिव्यानुभूतियें होना आरम्भ हो गयी। यह एक स्वाभाविक नियम है कि जो जितना तेजस्वी व्यक्ति होता है वह उस परमात्मा के दिव्य शुद्ध तेज में अनवरत दिखाई दिया करता है। यह शास्त्री नियम है कि:—

ईशाद्या सकला देवाः तुष्यन्ति परमा-त्मनि।

अर्थात् ईशादिक सकल देवता उस परमात्मा के अखण्ड ब्रह्मरूप महा तेज में इस प्रकार से दिखलाई दिया करते हैं जैसे जल और जल की लहरें, सोना और सोने के आभूषण। ठीक इसी प्रकार से जो व्यक्ति ज्ञानरूप हो जाता है और अन्तःप्रकाश को पा लिया करता है उसको उस दिव्य तेज में अवस्थित साधु महात्मा, तपस्वी सभी के अनवरत दर्शन होने लगते हैं मेढ़ ने भी कुछ कुछ इस स्थिति को प्राप्त कर लिया था यह जब भी अपने भजन और ध्यान में बैठता तब ही श्री आनन्दकन्द प्रभु जी के अखण्ड प्रकाश को देख लेता था और प्रभुजी के इन मानसिक भावों को भी वह समझ जाता था कि श्री प्रभुजी नाव त्रिवेणी स्नान का विचार कर रहे हैं। इसी अवस्था में ही मेढ़ श्री प्रभुजी से यही प्रार्थना करता था कि वे कृपा कर इसकी नाव में ही बैठें। एक ओर दीन-वत्सल श्री प्रभुजी ने त्रिवेणी स्नान करने के लिए उसकी नाव में ही बैठने का विचार परिणत कर लिया और सभी भक्तजनों से कहने लगे चलो भाई आज त्रिवेणी स्नान करने चलेंगे। श्री प्रभुजी के बार-बार इस प्रकार आग्रह पूर्वक कहने पर सभी लोगों को कुछ आश्चर्य हुआ कि इस प्रकार का आदेश तो श्री प्रभुजी कभी भी नहीं दिया करते थे। आज इतना हठ पूर्वक आदेश क्यों दे रहे हैं अवश्य कोई विशेष कारण होगा।

अस्तु, गुरु आज्ञा 'अनुल्लङ्घनीया' श्री गुरुदेव की आज्ञा का कभी भी उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए, इस सिद्धान्त को सामने रखकर के सभी के सभी सत्सङ्गी श्री प्रभुजी के पदानुगामी बनकर उनके पीछे-पीछे त्रिवेणी स्नान करने के लिए चल पड़े। उनमें से कितने ही श्री प्रभु जी के दासी-दास भक्त भी थे। सङ्गम स्थल पर पहुँचने पर बड़ी-बड़ी अच्छी नाव सामने आईं और हर सत्सङ्गी ने बार बार हठ किया कि प्रभुजी नाव बहुत अच्छी है बड़ी भी है, उजलावाली भी है आप कृपा कर इसी नाव में बैठिए किन्तु बड़ा आश्चर्य था कि श्री प्रभुजी किसी की नाव में नहीं बैठे प्रत्युत वहीं टूटी सी नाव लिए हुए एक तीर से खड़ा हुआ मेंडू मल्लाह प्रतीक्षा में था वहीं जाकर खड़े भये और कहा कि बस इसी की नाव में बैठेंगे। यही अच्छी है। निश्चय ही वह नाव अच्छी नहीं थी। बहुत पुरानी थी। टूटी सी थी और बहुत ही छोटी सी थी। सभी सत्सङ्गी उसमें आ भी नहीं सकते थे किन्तु श्री प्रभुजी की आज्ञा पाकर सभी सत्सङ्गी यथा-तथा करके उसी नाव में बैठ गये। मेंडू ने नाव चलाकर सभी को बड़ी सुविधापूर्वक त्रिवेणी स्नान करा दिया किन्तु एक बात का बड़ा ही आश्चर्य था कि श्री प्रभुजी मेंडू को बार-बार आदेश करते थे कि नाव को इधर ले चल उधर ले चल इस प्रकार उसको सङ्गम के जल में कई घण्टे तक बराबर घुमाते ही रहे। ज्यों-ज्यों श्री प्रभुजी आज्ञाएं देते थे त्यों-त्यों वह मल्लाह उत्तरोत्तर प्रसन्न ही प्रसन्न दिखाई देता था। घण्टों इसी प्रकार घुमा लेने के बाद सभी सत्सङ्गियों को श्री प्रभुजी ने आज्ञा दी—चलो अब इसको मोल से ऊपर रुपये पैसे देने की कोई जरूरत नहीं। पैसे हमने बस दे दिये। प्रभुजी की आज्ञा को सुनकर मल्लाह बहुत ही प्रसन्न हुआ। उसने बार-बार नमस्कार किया और सत्सङ्गी भी उसको कुछ भी दिये बिना ही उतरकर चले आये। किसी के मन में भी कोई दुविधा नहीं थी किन्तु 'जैसी हो ही तव्यता तैसी उपजे बुद्धि' इसी नियमानुसार महात्मा श्री बालकृष्ण दास वैरागी के मन में तरह तरह के अद्भुत पूर्ण विपरीत भाव आने लगे। वह अपने मन में सोचने लगा कि कैसे योगिराज हैं इन्होंने व्यर्थ में ही गरीबमार कर दी है इतनी देर तक इस बेचारे मल्लाह को घण्टों तक त्रिवेणी के जल में घुमाते भी रहे और चलते समय कोई भी पाई पैसा नहीं दिया। इन्हीं विचारों को बालकृष्ण दास वैरागी बार-बार अपने मन में घुमाते रहे। श्री प्रभुजी ने श्री बालकृष्ण दासजी से कई बार पूछा कि बालकृष्ण तुम क्या सोच रहे हो किन्तु श्री बालकृष्ण दास जी ने इन्कार कर दिया कि नहीं प्रभुजी मेरे मन में कोई

ऐसी बात नहीं है मैं तो साधारण रूप से चुप हूँ ही। ये प्रकरण काफी देर तक चलता रहा किन्तु बालकृष्ण दास जी ने सत्य को स्वीकार नहीं किया और न ही यह बताया कि वह क्यों उदास है। अन्ततः किसी और सत्संगी ने कहा कि इनके भाई बालकृष्ण दास जी शायद यही सोच रहे होंगे कि आप उस मल्लाह को उतराई क्यों नहीं देकर आये। इसी साथ ही श्री प्रभुजी ने बालकृष्ण दास जी को कहा कि अरे भाई यह बात तो ठीक ही है कि उस बेचारे मल्लाह को हम कुछ देकर के नहीं आए। श्री प्रभुजी के इतना कहने पर श्रीबालकृष्ण दास जी तत्काल बोल उठे कि बस प्रभुजी इतनी देर से मैं भी यही विचार कर रहा था। संकोच वश मैंने आप से नहीं कहा। श्री प्रभुजी थोड़े से मुस्कराये कि देखो ये १० रुपये ले जाओ और उस मल्लाह को तुम दे आओ। भीड़ बहुत है क्या तुम उसको पहिचान लोगे। बालकृष्ण दास जी ने उत्तर दिया कि हां प्रभुजी मैं उसको अवश्य पहिचान लूँगा और ये रुपए उसी को देकर आऊँगा। श्री प्रभुजी ने प्रसन्नतापूर्वक आज्ञा दे दी। श्री बालकृष्ण दास जी काफी तलाश करने के बाद केवट मल्लाह के पास पहुँचे। केवट मल्लाह अपनी नाव में पूरी-पूरी प्रसन्नता के साथ खड़ा था। श्री बालकृष्ण दास जी के मन में बड़ी ही प्रसन्नता थी कि मल्लाह मुझे देखकर के एवम् मेरे हाथ के १० रुपए के नोट को देखकर के बहुत ही प्रसन्न होगा किन्तु बात इसके विपरीत रही। ज्योंही श्री बालकृष्ण दास केवट मल्लाह के नाव की ओर बढ़े तो मल्लाह ने बालकृष्ण दास को पहिचान लिया और डाट कर कहा महात्मा तुमको शर्म नहीं आई। तू मुझे १० रुपये देने आया है। तेरे बाबा ने मुझे सब कुछ दे दिया है। अब तू मुझे १० रुपये क्यों दिखाने आया है तू उस परब्रह्म नित्य शुद्ध चेतन सद्गुरुदेव की लीला में पाप देखता है क्यों न तुझे अभी कुष्ठ हो जाये। बड़ा ही आश्चर्य था कि मल्लाह के मुख से शब्द निकलते ही श्री बालकृष्ण दास के शरीर में विशेषतः पेट पर तत्काल श्वेत कुष्ठ के निशान पड़ गये और खुजली इतनी बढ़ी कि उसको रास्ता तय करना कठिन हो गया। यथा-तथा श्री गुरुजी के चरणों में पहुँचे और पहुँचकर पूरा हालात श्री प्रभुजी को निवेदन कर दी। श्री प्रभुजी ने उसके शरीर पर तत्काल बढ़े हुये कुष्ठ रोग को देखकर कहा कि ये तो उसने ठीक नहीं किया। उसने कह दिया सो कह दिया। ये मिट्टी तू सारे शरीर पर लगा ले यह तीर्थ की मिट्टी है तेरा रोग अभी हट जायेगा। श्री प्रभु जी की आज्ञानुसार यह रज शरीर पर लगाई उसके लगाते ही बालकृष्ण दास बिल्कुल ठीक हो गये। और कुम्भ मेले के बाद श्री प्रभुजी के चरणारविन्द के साथ अमृतसर लौट आये।

उसके बाद बालकृष्ण दास जी जिन्दगी पूर्ण स्वस्थ रहे। किन्तु जब उनके मृत्युकाल में एक या दो वर्ष शेष रह गये तो एक दिन वह ध्यान में बैठे तो ध्यानावस्था में श्री प्रभु जी ने कहा कि बालकृष्णदास, प्रारब्ध भोग बड़ा कठिन है वह तुम्हारा एक जन्म और ले लेगा। अच्छा हो उसे भोग भी तुम इसी जन्म में भोग लो। अब तुम्हारा जीवन भी ज्यादा नहीं है उसके भोग को २ वर्ष या ६ महीने अपने शरीर पर भोग लो। उसके बाद इससे अगला जन्म तुम्हारा उत्तम हो जायेगा और उस उत्तम जन्म में तुम अच्छी अन्तर्मन की कमाई कर सकोगे। श्री प्रभुजी की इस प्रकार की आज्ञा प्राप्त हो जाने के बाद उस क्लिष्ट कर्म विपाक को स्वीकार कर लिया। श्री बालकृष्ण दास जी ने मुझे जगन्नाथपुरी में बतलाया था कि ध्यान में श्री प्रभुजी की ऐसी आज्ञा हो जाने के बाद एवम् मेरे उस क्लिष्ट कर्म विपाक को स्वीकार कर लेने के बाद उनमें कालान्तर उठा तो नहीं कुछ अंगों का रूप जैसा इलाहाबाद में प्रारब्ध के कहने पर प्रकट हुआ था वह तत्काल प्रकट हो गया श्री बालकृष्ण दास जी को यह कुष्ठ रोग मृत्यु से लगभग १ वर्ष या ६ माह पहिले हुआ और इसको भोग लेने के पश्चात् सभी के सामने यह कहकर कि अब मेरा भोग पूरा हो गया है अब मैं जा रहा हूँ, उन्होंने अपने प्राण त्याग दिये।

❀ इन्द्रियां ❀

—'जो मन स्वैर संचार करने वाली इन्द्रियों के पीछे दौड़ता है, वह मनुष्य की प्रज्ञा को, पानी में नाव को हवा की तरह, बहा ले जायेगा। इसलिए, हे महाबाहु, जिसकी इन्द्रियाँ विषयों से हर तरह से निगृहीत हैं, उसकी प्रज्ञा स्थिर होती है।'

—'यह (काम) इन्द्रिय, मन और बुद्धि का सहारा लेकर इनसे मनुष्य के ज्ञान को ढांक कर उसे मोह में डाल देता है।'

—'जो व्यक्ति इन्द्रियों में रममाण होता है, उसका जीवन व्यर्थ है, वह पापी है।'

—'इन्द्रियां श्रेष्ठ कही गयी हैं, इनसे मन, और मन से बुद्धि श्रेष्ठ है, बुद्धि से भी जो श्रेष्ठ है वह प्रभु है।'

—'विषयों के प्रति इन्द्रियों के राग-द्वेष निश्चित हैं। पर उनके वश नहीं होना चाहिए, क्योंकि वे इन्द्रियों के शत्रु हैं।'

—गीता

पद्य-बद्ध वर्णन—

प्राणायाम

सममुनि प्राणायाम बखाना, चन्द्रगरभादिक गुनहि सयाना ।
प्राण शक्ति जग जीवहि देही, प्राण विज्ञान कहहिं श्रम तेही ।
निर्बल प्राण करहिं बहुरोगा, पीन तो योग सफल नहीं योगा ।
प्राणन जेहि विधि बस कर सखा । प्राणायाम तेहि मुनि भाखा ।
सतत योग अरु आसन कुशहत्य । प्रातन हेतु देखहि समन्वय ।
बाहर शोर कुटी कोउ छाना । बाम उजारा वीथिर अहूँ पावन ।
ऊँच नीच नहीं जासु बिहीना । बैठे तहँ साधन मन दीन्हा ।
जो प्रारम्भ करहिं अभ्यासा । ते अनुकूल ऋतुहिं भातु भासा ।
वर्षा शिशिर ग्रीष्म हेमन्ता । छाँड़ि, सुन हेमन्त बसन्ता ।

सम ऋतु शुभ अनुकूल देहि, करहिं यतन प्रारम्भ ।
सफल होय तेहि साधना, बने सहायक अम्ब ॥

प्रथम शुद्ध नाड़ी कर लीजै । प्राणायाम तबहिं पुन कीजै ।
नाड़ी शुद्ध होय जस नामा । सुनहु ध्यान कर, करहुँ बखाना ।
करहिं स्नान पद्मासन लाई । मंत्र पढ़हिं तेहि शुभ मन भाई ।
वायु तत्व पुनि धूम्र प्रकाशा । ध्यान करहिं अम्बर भर आशा ।
पूरक कर कुम्भक पुन साधा । पूरक से चौगुना अगाधा ।
रेचक दुगुन करहिं सब धीमा । एक चार दो की रख सीमा ।
नाभि प्रदेश करहिं तब ध्याना । अग्नि प्रकाशित तेहि कर जाना ।
पूरक करे दाहिनी नासा । बाईं से छोड़े पुनि श्वासा ।
पुनः नाराय ध्यान कर भानु । बीजमंत्र ॐ राखहि मानु ।
बाम छिद्र भर आनहि श्वासा । पुनि कुम्भक मे कीजे वासा ।

बीजमंत्र सों ध्यान कर, छोड़े बाईं श्वास ।
शुद्ध करे नाड़ी प्रथम, धर धीरज विश्वास ॥

प्राणायाम आठविधि कहहूं, सहित सूर्यभेदी उज्जाई।
पुनि सीतली, भस्त्रिका जानी, पंचम मुनि भ्रामरी बखानी।
मूर्छा षष्ठम तेहि बखाना, अरु केवली अष्टम जाना।
बरनहुं विधि अस ग्रन्थ विचारा, कहेउ महा मुने सोई प्रकारा।
एक सगर्भ कहिय मुनि जानी, कहत निगर्भ द्वितीय बखानी।
अब सुनु क्रिया सगर्भ सुजाना, जेहि विधि प्राण गहहिं सब नाना।
उत्तर पूरब मुख थित जाई। बैठहिं जेहि आसन सुखदाई।
ध्यान करहिं ब्रह्मा रजु भाना, राजस तत्व उदय तेहि काला।
अगनी प्रकाश बढ़े अस धारा, मूर्धा मस्तक शब्द अकारा।
चौंसठिमात्रक कुम्भक लाई। अमित रजु तब देय दिखाई।
ईश तत्व तेहिकाल प्रकाशा। मूर्धा मध्यम शब्द उकारा।

रेचक दायें नासिका कर, धर मन विश्वास।
षोडश वर्ण शिव बसत है। नील वर्ण आकाश।

रेचक दायें छिद्र अपारा। बीज मन्त्र तब सुनहिं उचारा।
यहि विधि औ किंचु जाय मन लाई। पुनि दायें से भरहु भाई।
तब निर्गभ की क्रिया बताई। बीज मन्त्र जब देहिं मिटाई।
षिन बीजन तक पूरक कीजै। चौंसठ तक कुम्भक करि लीजै।
बत्तीस में रेचक कर जाना। जेहि सकल गति गहहि सुजाना।
उत्तम पूरक बीज प्रमाना। बारह मध्यम कहहिं मुनि ज्ञाना।
षौ सब तत्व करहिं कोई भाई। लगन होय सोइ सुफल कमाई।
प्राणायाम सफल जब होई। मन परतीति रोह नहु होई।

उत्तम में धम से उठे। मध्यम हलचल होय।
अधम स्वेद पग छोड़हिं। तेहि मत दायें सोय।।

सूर्यभेदी प्राणायाम

सूर्य भेद अब कहहुँ बखाना। जरा मृत्यु नाशहिं निर्मिषाना।
वायु रहहिं तन दसहिं प्रकारा। प्राण अपान समान विचारा।
नाग उदान कूर्म अरु जाना। देव धनञ्जय किरकल बखाना।
प्राण हृदय अरु गुदा अपाना। नाभि समान सुकण्ठ उदाना।

व्याप्त रहे सब देह समाई। सब मिल प्राण कहावत भाई।
पाँच और उपप्राण कहाता। होत डकार नाग बन जाता।
खोलहि नयन बंद कर लाई। कूर्म वायु को क्रिया सुहाई।
छींकन वायु कृकल सुहानी। देवदत्त जमुहाई जानी।
मारी वायु धनंजय जोला। मरते रहे समय कहु बोला।

इनहू प्राण वश होय जब, ताहि सुगति लेहु जान।
कूर्म भेद जाने बिना, अनियंत्रित रहि प्राण॥

हम्मी श्वास इड़ा कर माना। सोई नाड़ी सूर्य बखाना।
कुम्भक करहिं जहाँ लग होई। स्वेद सिखा अनुभव जब होई।
नाभि प्रदेश करहिं अनुमाना। उदर बायन प्राण सुजाना।
रेचक करे नासिका दायीं। पुन पूरक नासापुर बायीं।
करहिं क्रिया सोई बार अनेका। बाढ़हि ज्ञान नासहिं अविवेका।

उज्जायी प्राणायाम

उज्जायी अब सुन मन माहीं। पूरक वायु शब्द सुख माहीं।
हृदय वायु खींचहि हम आना। मेढ़हि जो सुख रही समाना।
गहरी नीद करहि बरजोर। कण्ठ प्रदेश रोक जस मोरा।
रेचक करत सोहू पुनि करई। उज्जायी एहि भाँति सुहावई।

कफ खाँसी आम वात को, यह विधि सहन न देई।
श्वास ज्वर व्रण रोग सब, उज्जायी हर लेइ॥

शीतली प्राणायाम

नासिका सम जिह्वा कर लाई। खींचत वायु उदर भर पाई।
करै शीतली में दिन आसा। ताके वश होय क्षुधा पिपासा।

भस्त्रिका

रेचक पूरक बारम्बारा। [illegible] चले एक रस धारा।
ज्यों लोहार धौंकनी धौंके। तन नासा पुर श्वासा, धौंके।
ओरा सार कुम्भक में लाई। सोई भस्त्रिका जुगति कहाई।

भ्रामरी प्राणायाम

तर्जनि से मूँद दोउ काना। सुनहि विविधविधि नाद सुजाना।
ओम् नाद कर कण्ठ प्रवेशा। चित्त न भ्रमहिं मन लव लेशा।
दीरघ रेचक में सुनहि, गुंजन भ्रमर समान।
करत भ्रामरी के सधहिं, नाद योग सविधान।

केवली प्राणायाम

प्राणायाम एक अति पावन। नाम केवली उत्तम साधन।
अजपाजप सोइ कहहिं सुजाना। महिमा अमित न जाइ बखाना।
सहस तरुन श्वासा दिन राती। जपत सदा 'सोऽहं' एहि भाँती।
सोऽहं आप चलहि अनजाना। पामर जीव देत नहिं ध्याना।
मूलाधार अनाहत नाना। होत सदा स्पंदित ज्वाला।
सोइ एक चक्र चेतना लाई। पूरक में जो देइ सुनाई।
रेचक करत सुनहि 'हं' वाणी। अथवा आप कहत सोइ प्राणी।
क्रम-क्रम श्वासा गति कम कीजै। रेचक की लम्बाई लीजै।
अजपा जाप की साधना, करहिं जो नर मन लाय।
नारायण सम शिव को, शिव कर रंग लखाय।

बंध-प्रकरण

उड्डियान—

उदर प्रदेश दबावे भीतर। पुन ले जावे नाभि के भीतर।
कुम्भक करे रहे यह भाँती। सो उड्डियान बंध सुख राती।
प्रबल सिंह मारे जस हाथी। साधक रोग हरे यहि भाँती।
होय प्रबल जठराग्नि शरीरा। पाचन बढ़े मिटे सब पीरा।

जालंधर—

सकुच कण्ठ ठोढ़ी रख छाती। जालंधर साधे यह भाँती।
सिद्धि मास षट् साधक पाई। मृत्यु भीति तिन ढिग नहीं आई।
तन के जो षोडश आधारा। पग अंगुष्ठ मुख्य विस्तारा।
सिरा वज्रनाड़ी अरु नासी। जिह्वा मूल अन्तर भासी।

दृढ़ता नकड़ भ्रूमध्य अरु, नासिकाग्र पुनि मूल।
करे नियमित नैन अरु, ताहु हरे सब शूल॥

मूलबंध—

बाम एड़िकर गुदा लगाई। गुदा समावत भेद बनाई।
नाभि सिकोड़ि रीढ़ की ओरा। अकुंचित मूल इन्द्रिय तल जोरा।
दाईं एड़ी जननेन्द्रिय मूला। संकुचित अङ्ग करे यह तूला।
मूलबंध यहि भांति मनाई। वृद्धावस्था दिन नहिं आई।

महाबंध—

उड्डियान जालंधर मूला। महाबंध माहीं सब तूला।
तीनों बंध साथ कर जोई। महाबंध कल्याणी होई।
बंधी भलाइ म अनुरागी। जे धारे ते अति बड़ भागी।

मुद्रायें

महावेध मुद्रा—

मूलबंध संग में ओड्डियाना। कुम्भक में थिर होय सुजाना।
महावेध मुद्रा कहलाई। यह मुद्रा बिनु बंध सताई।

महाबन्ध अरु मूल का, महावेध के साथ।
योगवेत्ति साधक सदा, नित्य करे अभ्यास।

महामुद्रा—

बाम एड़ि पर गुदा लगाई। गुदा समावत भेद बनाई।
फैला कर दांया पग भारी। गहि अंगुष्ठ उभय कर धारी।
दृष्टि रखे भ्रूमध्य लगाई। यही महामुद्रा कहलाई।

नभोमुद्रा—

जिह्वा में जो तालु लगाई। तो नभमुद्रा कहलाई।

खेचरी मुद्रा—

जिह्वा मूल काट पुनि मींजे। दोहन घृत अरु पुष्ट में कीजे।
लम्ब जीभ शनैः शनैः होइ जाई। भृकुटि कपाल मोड़ तल धाई।
तालु छिद्र जिह्वा जब धारी। करे पान अमृत दिन राती।

—क्रमशः

लेखक बन्धुओं से निवेदन

सिद्धयोग का अठारहवें वर्ष का प्रवेशांक सदा की भांति महाप्रभु जी की पावन-जयन्ती के अवसर पर अंक-सुमन ६ दिनांक २० मार्च ८४ को विशेषांक के रूप में विविध साज-सज्जा के साथ प्रकाशित हो रहा है। इस अंक के लिए अनेक विद्वान लेखकों और सुकवियों के लेख और रचनायें हमें प्राप्त हो चुकी हैं। जिन लेखक बन्धुओं ने अब-तक अपने लेख एवं रचनायें नहीं भेजी हैं उनसे अधिक से अधिक १५ मार्च तक अपने लेखादि भेज देने की प्रार्थना है। लेख और रचनायें योग-परक ही होनी चाहिए तथा यह भी आवश्यक है कि लेखक-बन्धु अपने मौलिक लेख ही प्रेषित करें। उद्धृत लेखों पर मूल लेखक का नाम देना भी आवश्यक है। प्रेषक के रूप में प्रेषकों का भी नाम लिखा जा सकेगा।

आशा है 'सिद्धयोग' के सभी लेखक-बन्धु इस निवेदन पर विशेष ध्यान देकर अपनी कृतियां शीघ्र भेजने की कृपा करेंगे।

निवेदक :—
संयुक्त सम्पादक

नये वर्ष का मूल्य भेजिए

प्रस्तुत अंक मार्च ८४ का पाठकों तथा ग्राहकों की सेवा में प्रेषित किया जा रहा है, इसके पहुंचने पर उनके १७ वें वर्ष का मूल्य जो गत वर्ष जमा कराया गया था समाप्त हो जाता है अतः १८ वें वर्ष मूल्य २५) पच्चीस रुपया सिद्धयोग के सभी ग्राहकों को आश्रम के पते पर मनीआर्डर द्वारा भेज देना चाहिए ताकि नये वर्ष का विशेषांक जो मार्च ८४ का अंक होगा—उन्हें यथा समय भेजा जा सके। सिद्धयोग के विशेषांक सहित सभी अंक पठनीय और संग्रहणीय होते हैं। अनन्त श्री गुरुदेव जी महाराज के योग-प्रचार कार्य-क्रम भी नियमित रूप से 'सिद्धयोग' में प्रकाशित होते रहते हैं। श्री गुरुदेव जी महाराज से आप का व्यावहारिक और आत्मिक सम्पर्क बना रहे, इसके लिए सिद्धयोग ही एक सुलभतम साधन है इस साधन को सुदृढ़ और अटूट बनाये रखने के लिए भी तथा साथ ही योग सिद्धान्तों के प्रशिक्षण और पथ-प्रदर्शन के लिए भी 'सिद्धयोग' के ग्राहक परिवार से आप का नाम जुड़ा रहना लाभदायक ही रहेगा। अतः हमारा विशेष आग्रह है कि आप नये वर्ष का मूल्य यथा सम्भव शीघ्र से शीघ्र भेज देने की कृपा करें। जयन्ती महोत्सव में भाग लेने वाले भाई-बहन कार्यालय में मूल्य जमा करा के अपनी रसीद तथा विशेषांक की प्रति प्राप्त कर सकेंगे।

—व्यवस्थापक

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 Mar. 1985

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुरु योग प्रशिक्षण केन्द्र, कराई (शाहदपुर) आगरा।

PRINTED MATTER

Book-Post

श्री ....

....

....

....

बिना योगेन न मोक्षं लभते प्रिये

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञोऽपि-जितेन्द्रिय ।
बिना योगेन देवोऽपि न मोक्ष लभते प्रिये ॥

ज्ञानी हो या त्यागी हो या धर्मवान् हो अथवा इन्द्रिय-जयी हो-किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी हे प्रिये ! योग के बिना मोक्ष नहीं प्राप्त होता है।

— आत्मतत्व के साक्षात्कार में योग ही एक उपाय है, योगाभ्यास द्वारा ही उस आत्मदेव को जानकर श्रेष्ठ पुरुष हर्ष, शोकमय और जन्म-मरण रूप संसार का परित्याग करते हैं।

—योग-बीज

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'सिद्ध' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, कराई कर्मा, शाहगंज, आगरा-१ फोन ६३११०